भागवता कथा ग्रन्थ १— उत्तरा पराजित श्रीकृष्ण

श्री भागवत-दर्शन :-

भागवती कथा

[चौंतीसवाँ खण्ड]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा'॥

लेखक

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

तृतीय संस्करण
१०००

ज्येष्ठ सम्वत् २०२८

संशोधित मूल्य { मूल्य [illegible] रुपया

प्रकाशक
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

● मुद्रक
वंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

महाराज दुष्यन्त और शकुन्तला

[७६८]

दुष्यन्तो मृगयां यातः कण्वाश्रमपद गतः।
तत्रासीनां स्वप्रभया मण्डयन्तीं रमामिव ॥
विलोक्य सद्यो मुमुहे देवमायामिव स्त्रियम् ।
बभाषे तां वरारोहां भटैः कतिपयैर्वृतः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २० अ०, ८, ९, श्लो०)

छप्पय

होहिं हवन, कहुँ साम बैठि बटु सस्वर गावैं।
नाचैं केकी कहूँ कहूँ मृग पूँछ हिलावैं ॥
कोई समिधाकुशा पुष्प फल लैकें आवैं।
कोई बल्कल वस्त्र उटज पै डारि सुखावैं ॥
तरुछाया महँ बैठि मृग, करहिँ जुगार खुजाइँ तन।
आश्रम शोभा निरखिके, भयो नृपको मुदित मन ॥

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! महाराज दुष्यन्त एक बार अपने बहुत से योद्धाओं से घिरकर मृगया के निमित्त गये। वे सयोगवश कण्वमुनि के आश्रम पर पहुँच गये। वहाँ उन्होंने अपनी प्रभा से उस आश्रम को सुशोभित करती हुई लक्ष्मी के समान, देवमाया के समान, एक सुन्दरी स्त्री को देखा। उसे देखकर राजा उससे बातचीत करने लगे।"

सहस्र गौएँ खडी हों, उनमें बछडे को छोड दो। गौ सब चाहे एक रग रूप की ही क्यों न हों, बछडा उनमे से अपनी माँ का ही स्तन पान करने लगेगा। दूसरी गौ के नीचे न लगेगा। इसी प्रकार सच्चरित्र कुलीन वशोद्भव पुरुषों का चित्त उसी की ओर आकर्षित होगा, जिससे अपना सम्बन्ध निश्चित हो। जिनका रजवीर्य शुद्ध है, जो सद्कुल मे उत्पन्न हुए हैं, उनका मन अधर्म की ओर जाता ही नहीं। इसीलिये मनीषियों ने कहा—"सदेहास्पद वस्तुओं के विषय में सज्जनों की अन्त करण प्रवृत्ति ही परम प्रमाण है। जिनकी अधर्म करने की प्रवृत्ति ही नहीं, यदि उनसे भूल से भी कोई ऐसा-वैसा कार्य हो जाय, तो उसका सम्बन्ध पूर्वजन्मों का ही समझना चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! कण्वाश्रम म महाराज दुष्यन्त ने एक-से-एक विचित्र वस्तुएँ देखी। वहाँ जितने मुनि थे, वे सब तपस्या में निरत थे। बहुत से कर्मकाण्डी थे, वे यज्ञ में कौन सा मन्त्र, कहाँ किस कार्य में विनियोग करना चाहिये, अमुक क्रिया किस प्रकार करनी चाहिये, इन्हीं सब बातों पर विवाद कर रहे थे। बहुत से दार्शनिक सिद्धान्तो की ऊहापोह कर रहे थे। बहुत से यम नियम परायण हो, मौन व्रत धारण किये, आसन मारकर, मन्त्र जाप कर रहे थे। चित्र विचित्र आसनो पर विराजे हुए सभी ऋषि मूर्तिमान् तप, सजीव ज्ञान, साक्षात् सयम के समान दिखाई देते थे। राजा ने मन-ही-मन सबको प्रणाम किया। राजा साधारण वेप में थे। बहुत से आश्रमी कुलपति भगवान् कण्व के दर्शनों को आया करते थे। अत किसी ने उनकी ओर विशेप ध्यान नहीं दिया। राजा ने देखा, कई ब्रह्मचारी हाथ में पलास का दण्ड लिये हुए कुल्हाडी और रस्सी लेकर वन मे समिधा लाने जा रहे हैं। अत उन्हें देखकर राजा ने आदर और

प्रेम के साथ कहा —"ब्रह्मचारियो ! आप बता सकते हैं कि भगवान् कण्व की कुटी कौन सी है ?"

उनमें से एक बड़ी बड़ी आँखों वाला सुन्दर सा बटु बोला—"देखिये, सम्मुख जो ये चार आम के बड़े बड़े सघन वृक्ष हैं, उनकी आड में जो लम्बी-सी दो कुटियाँ दिखाई दे रही हैं, उन्हीं में कुलपति भगवान् विराजते हैं। चलिये, मैं आपको पहुँचा दूँ।" यह कहकर ब्रह्मचारी उनके साथ हो लिया।

उस कुटी के चारों ओर बड़ा-सा घेरा लगा कच्ची मिट्टी से इतनी ऊँची दीवाल उठाई गयी थी, जिसमें मनुष्य न दीख सके। बाहर बाँस का एक फाटक था। उसके दोनों ओर दो वृक्षों पर मालती का लतायें चढ़ी हुई थीं, फूली हुई थीं। द्वार को दिखा कर ब्रह्मचारी ने कहा—"आप इसके भीतर जा सकते हैं। मेरे साथी दूर चले गये होंगे। अत. मैं अब आपकी आज्ञा चाहता हूँ।" यह कहकर वह दौड़ता हुआ चला गया।

द्वार पर पहुँच कर राजा ने मन्त्री पुरोहित को वहीं रोक दिया और वे अकेले ही आश्रम में घुस गये। उन्होंने देखा—आश्रम में सभी वस्तुएँ व्यवस्थित ढग से रखी हुई हैं। सभी वृक्षों के थाले बने हुए हैं। सब थाला में पानी दिया गया है। चारों ओर लता-मण्डप बने हैं। एक सुन्दर पुष्करिणी भी उस आश्रम में है, जिसमें भाँति भाँति के कमल खिल रहे हैं। यज्ञशाला लिपी पुती स्वच्छ पडी है। दो कुटियाँ बनी हैं, जो अत्यन्त ही सुन्दरता के साथ सजी हुई हैं। राजा को ऐसा लगा मानो मैं बकुण्ठ में आ गया। उन्होंने वहाँ कुलपति भगवान् कण्व को नहीं देखा। कुछ देर तो वे खडे रहे, फिर उन्होंने पुकारा—"यहाँ कोई है ? मैं भगवान् कण्व के दर्शना के निमित्त आया हूँ।"

राजा ने देखा, तुरन्त ही समीप की उटज से वल्कल वस्त्र

पहने अपनी वेणी को सम्हालती हुई, लजाती हुई, एक अत्यन्त ही सुन्दरी युवती निकली। राजा को देखकर वह उनके समीप आई और सिर नीचा करके खडी हो गई। इस मुनि आश्रम में साक्षात् लक्ष्मी, मूर्तिमती तपस्या और काम-पत्नी रति के समान उस अनुपम रूप लावण्य-युक्त ललना ललाम को देखकर राजा का मन चचल हो उठा। वे सोचने लगे—"यह रमा है या सरस्वती ? यह रति तो हो नहीं सकती। उर्वशी का यहाँ क्या काम ? यह इस वन की अधिष्ठात्री देवी तो नहीं है ? या स्वय सुदरता ही ही तो साकार रूप धरकर मेरा स्वागत करने नहीं आ रही है ? अथवा मुनि की अनुपस्थिति मे उनकी तपस्या ही मूर्तिमती होकर आतिथ्य के लिये बढी चली आ रही है। यह देवकन्या तो है नहीं। तपस्वियों की कन्याओं मे ऐसी कोमलता सम्भव नहीं।" राजा ऐसा विचार कर ही रहे थे कि उस सुन्दरी ने वीणा विनिन्दित स्वर में कहा—"हे नरदेव ! आपका स्वागत है ! मेरे पिता अभी इसी समय एक मुनि के साथ वन मे चले गये हैं। सम्भवतया कल वे अवश्य लौट आयेंगे। आप विराजें। यह आपके पैर धोने का जल है। इससे आप आचमन करें। यह मैं अपने पिता की ओर से आपको अर्घ्य दे रही हूँ। इस आसन को आप सुशोभित करें।"

राजा बीच में बिना कुछ बोले ही उस देवमाया सदृश ललना ललाम के ललित वचनों को सुनते गये, तथा पैर धोकर आचमन कर, अर्घ्य को शास्त्रीय विधि से स्वीकार करके, वे उस देवी के दिये हुए आसन पर बैठ गये।

राजा के बैठ जाने पर शकुन्तला ने पूछा—"क्या मैं आपका परिचय प्राप्त कर सकती हूँ ?"

राजा बोले—"देवि ! मैं इस देश का राजा हूँ। दुष्यन्त मेरा नाम है। मैं आखेट के निमित्त वन में आया था। आश्रम को

देखकर मेरी इच्छा भगवान् कण्व के दर्शनों की हुई। मैं मृगया करते करते थक गया था। प्यास के कारण व्याकुल था, किन्तु मुनि के मनोहर आश्रम के दर्शनों से मेरी भूख प्यास चली गई। यहाँ तुम्हारे मधुर वचनों से और प्रेम-भरे आतिथ्य से मैं कृतार्थ हो गया। भगवान् के दर्शन न होने से मुझे निराशा अवश्य हुई, किन्तु तुम्हारे स्नेहपूर्ण व्यवहार से मेरी यात्रा सफल हो गई। यह मैंने अपना परिचय दिया। अब क्या मैं आपका परिचय प्राप्त कर सकता हूँ ?"

लजाते हुए सुन्दरी ने कहा—"राजन् ! मेरा इतना ही परिचय पर्याप्त है कि मैं भगवान् कण्व की पुत्री हूँ। उनकी अनुपस्थिति में अतिथियों की सेवा का भार मेरे ही ऊपर रहता है। आज्ञा कीजिये, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ?"

राजा ने कहा—"भगवान् कण्व तो बाल ब्रह्मचारी हैं, उनकी पुत्री होना तो असम्भव है, चाहे धर्म अपनी मर्यादा छोड़ दे, किन्तु भगवान् कण्व अपनी मर्यादा नहीं छोड़ सकते। आप उनकी पुत्री कैसे हुईं ? मुझे अपना यथार्थ परिचय दीजिये।"

यह सुनकर शकुन्तला लज्जित हुई ! उसने कहा—"राजन् ! मैं भगवान् कण्व की पालिता पुत्री हूँ। मेरी उत्पत्ति कैसे हुई, इसे मेरे पिता जानते हैं। राजा से शकुन्तला यह कह रही थी, कि उसी समय उसकी एक परिचर्या करने वाली सखी आ गई। राजा को देखकर वह सहम गई। राजा ने कहा—"देवि ! यदि तुम अपनी सखी की उत्पत्ति की कथा मुझे सुना सको, तो सुनाओ। इनका परिचय प्राप्त करने को मेरा चित्त चंचल हो रहा है।"

सखी ने कहा—"राजन् एक दिन एक महर्षि के पूछने पर भगवान् कण्व ने जिस प्रकार मेरी इस सखी की उत्पत्ति की कथा सुनाई थी, उसे मैं आपको सुनाऊँगी। आप दत्तचित्त होकर इस मनोरञ्जक आख्यान को श्रवण करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! सखी की बात सुनकर महाराज परम उत्सुक हुए। उन्हें अत्यन्त उत्कंठित देखकर सखी शकुन्तला की उत्पत्ति की कथा सुनाने के लिये प्रस्तुत हुई।

छप्पय

कही भूप-को यहाँ ? सुनत इक युवती आई।
सहज सुन्दरी निरखि नृपहिँ मनमहँ सकुचाई॥
लज्जा तैं सिर नाइ अर्घ्य दै आसन दीन्हों।
करे भेंट फल-फूल यथाविधि स्वागत कीन्हों॥
करि स्वागत स्वीकार जब, नृप परिचय पूछन लगे।
कह्यो सुता हौं कण्व की, पूछें नृप—'ऋषि पितु सगे'॥

शकुन्तला की जन्म कथा

[७६६]

विश्वामित्रात्मजैवाहं त्यक्ता मेनकया वने ।
वेदैतद् भगवान् कण्वो वीर किं करवाम ते ॥
आस्यतां ह्यरविन्दाक्ष गृह्यतामर्हणं च नः ।
भुज्यतां सन्ति नीवारा उष्यतां यदि रोचते ॥*

(श्री भा० ६ स्क० २० अ० १३-१४ श्लोक)

छप्पय

कण्व न कीयो ब्याह भई पुत्री तुम कैसे ।
सखी कहे—"नृप ! कहूँ सुता मुनि की यह जैसे ॥
विश्वामित्र महर्षि करें तप डरप्यो सुरपति ।
करन तपस्या भङ्ग पठाई सुरललना रति ॥
परम सुन्दरी मेनका, रति सँग भेजी मुनि निकट ।
डरपति पहुँची सुरवधू, करहिं जहाँ मुनि तप विकट ॥"

---

* श्रीशुकदवजी कहते हैं—"राजन् !" शकुन्तला दुष्यन्त से कह रही है—"हे वीर ! मैं विश्वामित्रजी की पुत्री हूँ । मेरी माता मेनका ने मुझे वन मे छोड दिया था । भगवान् कण्व इन सब बातो को जानते हैं । कहिये, मैं आपका क्या सत्कार करूँ ? हे अरविन्दाक्ष ! आप विराजिये, और हमारी अर्घ्यादि पूजा की वस्तुओं को स्वीकारिये नीवार के भात को खाइये और इच्छा हो तो आज की रात यही निवास कीजिये ।"

कमल कीच से होता है, फिर भी वह देवताओं के सिर पर चढ़ता है। नीलम कोयले की खान से निकलता है, फिर भी वह बहुमूल्य माना जाता है। गंगा-जल पवित्र ही होता है। गो किसी भी जाति की हो, उसका दूध पवित्र ही होता है। इसी प्रकार कन्या भी रत्न है। नीति का वचन है दुष्कुल में उत्पन्न हुई कन्या भी निर्दोषा मानी गई है। फिर सत्कुल प्रसूता मुनि पालिता कन्यारत्न क्षत्रियों को मिल जाय, तो वे उसे सहर्ष स्वीकार करते थे, किन्तु वे इस बात का सदा ध्यान रखते थे कि वह हमसे उच्चवर्ण की कन्या तो नहीं है। ऐसा करने से विलोम संकरता होती है जो अत्यन्त गर्ह्य है। अपने समान वर्ण की या अपने से निम्न वर्ण की कन्या वर्णाश्रमी द्विजातिया के लिये प्रशस्त बताई गयी है। इसीलिये विवाह के पूर्व कन्या का कुल, गोत्र जान लेना आवश्यक है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज दुष्यन्त ने शकुन्तला की सखी से बड़ी उत्कण्ठा के सहित शकुन्तला की उत्पत्ति-कथा सुननी चाही, तो वह कहने लगी—"राजन्! सुनिये मैं आपको अपनी सखी के जन्म का वृत्तान्त सुनाती हूँ।

पूर्व काल में ब्राह्मण बनने के लिये राजर्षि विश्वामित्र ने बड़ा घोर तप किया। उनके तप को देखकर देवराज इन्द्र बड़े ही भयभीत हुए। उन्हें इस बात का सन्देह हुआ कि मुनि तपस्या करके कहीं मेरा इन्द्रासन न छीन लें। यही सोच कर उसने मुनि के तप में विघ्न डालने का निश्चय किया। उन्होंने स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी मेनका को बुलाया और कहा—"सुन्दरी! तुम मेरा एक प्रिय कार्य करो। जैसे हो तैसे तुम विश्वामित्रजी के तप को भङ्ग करो।"

मेनका ने कहा—"देव! मुझसे यह कार्य न होगा।"

देवराज ने पूछा—"क्यों न होगा ?"

मेनका बोली—"इसलिये कि ये मुनि बड़े क्रोधी हैं।"

इन्द्र ने कहा—"काम से क्रोध शान्त हो जाता है। सुन्दरता के आकर्षण के सम्मुख क्रोध चूर-चूर हो जाता है।"

मेनका ने कहा—"मुझे अपने सौन्दर्य पर इतना भरोसा नहीं।"

देवराज ने कहा—"तुम जाओ भी, वसन्त, रति, मलयानिल, काम आदि सब को ले जाओ।"

मेनका अब क्या करती। स्वामी की आज्ञा कैसे टाल सकती थी। वह मुनि के निकट गई और अपने हाव भाव, कटाक्ष और संगीत से मुनि के मन को मोहने लगी। मुनि का मन चंचल हो उठा और उन्होंने उसे आश्रम में रहने के लिये आमंत्रित किया। मेनका तो आई ही इसी उद्देश्य से थी। मुनि के बुलाने पर वह गई और उनकी इच्छा पूर्ति करती हुई, सुख पूर्वक मुनि के साथ आनन्द विहार करने लगी। मुनि उस वार-वनिता के फंदे में ऐसे फँस गये कि जप, तप, योग, ध्यान आदि सब भूल गये। अब वे रात दिन उस ललना को ही रिझाने में लगे रहते। मुनि उसके वय, रूप और अनवद्य सौन्दर्य पर ऐसे आसक्त हो गये, कि वे समय की गति को ही भूल गये। उन्हें यह भी प्रतीत नहीं होता था, कि कब दिन हुआ, कब रात हुई।

एक दिन मुनि को चेत हुआ। अरे ! मैं तो तप को त्यागकर विषयों में फँस गया। अवश्य ही यह देवताओं की माया है। उन्होंने लाल लाल आँख करके कहा—"मेनके ! तू मेरे तप को भंग करने आई है ?"

यह सुनकर मेनका तो मारे डर के थर-थर काँपने लगी। उसे जो भय था, वही प्रत्यक्ष उसके सम्मुख उपस्थित हो गया। उसने

अत्यन्त ही भयभीत होकर भूमि में सिर टेक कर गद्गद वाणी से कहा—"मुनिवर ! मेरा इसमें कुछ दोष नहीं, मुझे तो देवराज इन्द्र ने भेजा है। आप मेरे अपराध को क्षमा करें, मुझे अभयदान दें।"

सुरसुन्दरी को इस प्रकार भय से थर-थर काँपते हुए देखकर मुनि को दया आ गई। उन्होंने कहा—"सुन्दरि ! न तुम्हारा कुछ दोष है, न कामदेव का ही दोष। यह सब मेरा ही दोष है। मैंने यदि इन्द्रियों को जीता होता, तो मैं इस प्रकार तप छोड़कर काम के फन्दे में क्यों फँस जाता। मेरे ही मन में दोष है। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम सुखपूर्वक स्वर्ग जा सकती हो। मनुष्य विषय लोलुप न हो तो स्त्री उसका कुछ कर ही नहीं सकती। तुम इच्छापूर्वक जहाँ चाहो जा सकती हो। अब मैं और भी घोर तप करूँगा।" यह सुनकर मेनका के प्राणों में प्राण आये। वह मुनि के चरणों में प्रणाम करके तुरन्त वहाँ से चल दी। वह गर्भवती थी। विश्वामित्र का तेजस्वी वीर्य उसके उदर में स्थित था। गर्भ के दिन भी पूरे हो गये थे। अतः मेनका को मुनि के आश्रम से दूर मालिनी नदी के तट पर सिंह व्याघ्र सेवित निर्जन वन में एक कन्या उत्पन्न हुई। हिमालय की तलहटी में उस शीघ्र-गामिनी सरिता के तट पर उस सद्यःजात कन्या को यों ही अनाथ छोड़कर वह स्वच्छन्दचारिणी कामिनी सुरवनिता स्वर्ग को चली गई। पृथ्वी पर उसने मानवीय रूप बना लिया था, इसीलिये उसे गर्भ रह गया, नहीं तो स्वर्गीय ललनाओं के स्वर्ग में तो संतान होती ही नहीं।

भगवान् कण्व का आश्रम इस मालिनी के तट पर ही है। कुलपति भगवान् कण्व स्नान करने के लिये नदी तट पर प्रातःकाल जा रहे थे। उन्होंने निर्जन बन में एक अत्यन्त ही सुन्दरी

विद्युत्पुंज के समान सद्यःजात कन्या को वहाँ पड़े हुए देखा। उसे चारों ओर से शकुन्त (पक्षी) घेरे खड़े थे। कोई अपने परों से उसके ऊपर छाया कर रहे थे। कोई वायु कर रहे थे। मुनि को उस कन्या को देखकर बड़ी दया आई। करुणावश उन्होंने उस बच्ची को गोद में लेकर छाती से चिपटा लिया, और लेकर आश्रम में आये। (एक वृद्धा तापसी की ओर संकेत करके सखी ने कहा) यह जो वृद्धा तपस्विनी हैं, इन्हीं को मुनि ने कन्या लाकर दी। इन्होंने अपनी सगी पुत्री की भाँति इसका पालन पोषण किया। शकुन्त (पक्षियों) से घिरी हुई थी, इसलिये मुनि ने इसका नाम 'शकुन्तला' रखा। मुनि ने अपनी पुत्री की ही भाँति इसे प्यार से पाला है, इसीलिये यह उन्हें अपना पिता कहती है। वे भी इसे प्राणों से अधिक प्यार करते हैं। अब यह बड़ी हो गई है, इसलिये मुनि अब इसके विवाह की चिन्ता में हैं और इसके लिये योग्य वर खोज रहे हैं।"

इतना सुनते ही शकुन्तला ने आँख निकालकर कोप से सखी की ओर देखा और हाथ से उसके हाथ को दबाकर ऐसा कहने को मना किया। सखी हँस पड़ी। शकुन्तला लज्जित हुई। उसने अपनी झेंप मिटाने के लिये कहा—"हे नरदेव! मेरे कण्व भगवान पालित पिता हैं। उनसे ही मैंने भी यही बात सुनी थी, कि मैं मेनका के उदर से उत्पन्न राजर्षि विश्वामित्र की पुत्री हूँ। मेरी माता मुझे वन में छोड़कर चली गई थी। भगवान् कण्व ने ही मेरा भरण पोषण किया है। अपने जन्मदाता पिता को तो मैंने देखा भी नहीं—मैं तो इन्हें ही अपना सर्वस्व समझती हूँ। अच्छी बात है, ये सब बातें तो हुईं अब आप मेरी प्रार्थना सुनें। स्वतः ही जल में उत्पन्न होने वाले नीवार के चावल ही मुनियों का भक्ष्य अन्न है। उन सॅवा के चावलों से ही मुनिगण देवता,

अतिथि और पितरों की तृप्ति करते हैं। वे चावल बने हुए रखे हैं। आप तो राजा हैं, ५६ प्रकार के व्यञ्जन नित्य खाते होंगे। आपको वे रुचिकर तो न होंगे, किन्तु हमारे स्नेहवश आप उन्हें पावें। हमारा आतिथ्य स्वीकार करके हमें कृतार्थ करें।"

राजा ने कहा—"देवि! तुम्हारे दर्शनों से ही मुझे सब कुछ मिल गया। तुम्हारे मधु से भी मीठे वचनों से ही मेरी परम-तृप्ति हो गई। तुम्हारे रूपासव को पान करते करते ही मैं नहीं अघाता। तुमने जो मेरा सत्कार किया इसी से मैंने सब कुछ पा लिया।"

अत्यन्त ही उत्सुकता और अनुराग के स्वर में अपनी स्नेह भरी दृष्टि को राजा की दृष्टि में उड़ेलती हुई शकुन्तला बोली—"हे कमलनयन! आप हमारे पूजनीय और माननीय अतिथि हैं। पिताजी के न रहने पर आपकी सेवा का भार सर्वथा मेरे ही ऊपर है। आप संकोच न करें। स्पष्ट आज्ञा दें हम आपका कौन-सा प्रिय कार्य करें, किस प्रकार आपको प्रसन्न कर सकें। हमारी इच्छा है, एक रात्रि आप यहीं निवास करें, प्रातःकाल पिता जी आ जायँगे, उनके दर्शन करके आप जायँ। आप राजा हैं, आप से हम अधिक आग्रह तो कर नहीं सकतीं, किन्तु यदि आपकी इच्छा हो, कोई विशेष हानि न हो, तो आप एक रात्रि निवास यहाँ अवश्य करें।"

राजा ने कहा—"नहीं, संकोच की तो कोई बात नहीं। अब तक नाममात्र संकोच अवश्य था। अब तक मैं तुम्हें ब्राह्मण तपस्वी की कन्या समझता था। जब पता चल गया कि तुम भी एक राजर्षि की राजकन्या हो, तब तो संकोच की कोई बात ही नहीं। देखो, मैं अपने मंत्री, पुरोहित को बुलाता हूँ, उनसे सम्मति करके यदि सम्भव हुआ तो एक रात्रि यहाँ रहकर तुम्हारा आतिथ्य अवश्य ही स्वीकार करूँगा। ऐसा कर सका, तो मुझे

प्रसन्नता होगी।" यह कहकर राजा आश्रम के द्वार पर आये। वहाँ उनके पुरोहित और मन्त्री बैठे थे। राजा ने कहा—"भगवान कण्व यहाँ है नहीं। आज की रात्रि मैं यहीं निवास करना चाहता हूँ, तुम शिविर में जाओ। सेनानायक से कह दो, ऋषि आश्रम से सब लोग बहुत दूर रहें। ऋषियों को हमारे कारण किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे।"

मन्त्री ने कहा—"यहाँ महाराज के पास अगरक्षक और सैनिक भेज दिये जायें।"

राजा ने कहा—"नहीं, यहाँ किसी का भेजने की आवश्यकता नहीं। ऋषि आश्रमों मे अगरक्षकों की क्या आवश्यकता? यहाँ तो ऋषियों का तप ही सबकी रक्षा करता है। मैं अकेला ही यहाँ रहूँगा। किसी से कहने की भी आवश्यकता नहीं।"

मन्त्री ने कहा—"जैसी आज्ञा" यह कहकर वह राजा को अभिवादन करके पुरोहित के साथ शिविर में चला गया।

सूतजी कहते है—"मुनियो! राजा का मन शकुन्तला के सौन्दर्य पर आसक्त हो चुका था। यह जानकर उन्हें परम सन्तोष हुआ कि यह क्षत्रिय कन्या है। उनके रोम-रोम में से अनुराग निकल रहा था। इधर शकुन्तला ने भी आज तक इतना सुन्दर पुरुष कोई नहीं देखा था। अब तक वह मृगशावकों के साथ खेली थी, उनकी दृष्टि में बालकों का-सा भोलापन था, किन्तु आज उसके बडे बडे नेत्रों मे अनुराग के डोरे स्पष्ट दिखाई देने लगे। आज उसके मुख पर लज्जा, सकोच, अनुराग और उत्सुकता के सभी भाव क्षण-क्षण में आते और विलीन हो जाते। राजा उसके समीप आकर बैठ गये। अब राजा ने अपने प्रयोजन की बात आरम्भ की। आश्रम में शकुन्तला उसकी एक सखी और वृद्धा-तापसी के अतिरिक्त कोई भी नहीं था।

छप्पय

यौवन रूप निहारि भये मोहित मुनि ज्ञानी।
कीयो भोग विलास दिवस अरु निशा न जानी॥
भयो चेत इक दिवस मेनका भागी डरिकें।
गई स्वर्ग इक सुता सुन्दरी वनमहँ जनिकें॥
कुलपति कन्या वन लखी, घिरी शकुन्तनि तें विवश।
तातें नाम शकुन्तला, धर्यो करी कन्या सरिस॥
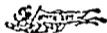
दुष्यन्त का शकुन्तला से गान्धर्व विवाह

[७७०]

उपपन्नमिदं सुभ्रु जातायाः कुशिकान्वये ।
स्वयं हि वृणते राज्ञां कन्यकाः सदृशं वरम् ॥
ओमित्युक्ते यथाधर्ममुपयेमे शकुन्तलाम् ।
गान्धर्वविधिना राजा देशकालविधानवित् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० २० अ० १७, १६ श्लो०)

छप्पय

क्षत्रिय-कन्या जानि नृपति मन माँहि सिहाये ।
भूप काम-वश भये नीति के वचन सुनाये ॥
मैं पौरव तुम कुशिक वंश की राजकुमारी ।
वरण करहु पति मोहिँ प्रीति यदि होहि तुम्हारी ॥
ब्राह्म, दैव, गान्धर्व अरु, राक्षस, आसुर, आर्ष वर ।
प्राजापत्य, पिशाच यों, ब्याह अष्ट संतानकर ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! शकुन्तला की बात सुनकर दुष्यन्त ने कहा—"हे सुभ्रु ! आतिथ्य-सत्कार के लिये वचन कहना तुम्हारे अनुरूप ही है । तुम्हारा जन्म तो कुशिक वंश में हुआ है, राज-कन्यायें तो अपने योग्य वर को स्वयं ही वरण करती हैं ।" शकुन्तला ने कहा—"अच्छी बात है ।" तब देश-काल के विधान को जानने वाले राजा ने गन्धर्व-विधि से शकुन्तला के साथ विवाह कर लिया ।"

विवाह एक धार्मिक सम्बन्ध है, उससे धर्म की भी प्राप्ति होती है और काम-सुख भी मिलता है। धर्म हीन काम नरक ले जाने वाला होता है, धर्म सम्मत काम सुखकर है। उससे स्वर्ग और अपवर्ग तक की प्राप्ति होती है। धर्म मे अविरोधी अर्थ और काम ही परलोक मे सुख पहुँचाते हैं। धर्म से रहित अर्थ और काम इस लोक म क्षणिक सुख भले ही पहुँचावें, किन्तु उनका परिणाम दु:खद ही है। काम भोग मे प्राणियो की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। इसे कोई रोकने में समर्थ नहीं —होंगे भी तो कोई विरले ही। इसीलिये स्मृतिकारा ने धार्मिक बन्धन मनुष्यों के लिये ही बताये हैं। पशु पक्षी तो प्रकृति के अनुसार व्यवहार करते ही हैं। काम प्रवृत्ति अनिवार्य तथा स्वाभाविक है, यही सोच कर ऋषियों ने विवाह के ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच—ये आठ भेद बताये हैं। इनमें कुछ उत्तम हैं, कुछ मध्यम और कुछ अधम। कन्या को वस्त्राभूषणों से अलकृत करके योग्य वर को घर बुला, जो विधि पूर्वक कन्या दी जाती है, उसे ब्राह्म विवाह कहते हैं। यह सर्वश्रेष्ठ विवाह है, आज कल यही विवाह प्रचलित है। यज्ञ के समय, अपनी कन्या को अलकृत करके दक्षिणा मे जो कन्या ऋत्विज को दी जाती है, उसे दैव-विवाह कहते है। अब यज्ञ ही नहीं होते। अतः ऐसे विवाह भी नहीं होते। वर से एक या दो गायें लेकर जो विवाह किया जाता है, वह आर्ष विवाह है। "हम दोनों साथ रह कर धर्माचरण करेंगे"—ऐसी प्रतिज्ञा करके जो विवाह किया जाता है, वह प्राजापत्य है। आज कल यह होता ही है। कन्या को, कन्या के पालने वाला को, धन देकर, जो विवाह किया जाता है, वह आसुर विवाह है। इस विवाह का आजकल निर्धनों म बहुत चलन है। यह अत्यन्त नीच विवाह माना गया है। वर

और कन्या दोनों की इच्छा हो जाने पर जो स्वेच्छा से विवाह कर लिया जाता है, वह गान्धर्व विवाह है। इसके मूल में काम है, विद्वानों ने इसकी प्रशंसा नहीं की है। पढ़े-लिखे लडके-लडकियों में आजकल इसका बहुत प्रचलन है। घर वालों को मार कर लडकर, घायलकर, जो रोती हुई कन्या को बल पूर्वक पकड़ ले जाय, यह राक्षस विवाह है, कन्या की इच्छा हो चाहे न हो। आज कल ऐसे विवाह राजकीय नियम के विरुद्ध माने जाने से प्रत्यक्ष नहीं होते। यह अत्यन्त हेय विवाह है। जो सुप्त- प्रमत्त अवस्था में, एकान्त में कन्या के साथ गमन करता है, यह अत्यन्त नीच—पैशाच विवाह है। इनमें ब्राह्मणों के लिये अन्त के दो–राक्षस और पैशाच–विवाह निषिद्ध हैं। शेष छः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं, अर्थात् गान्धर्व सब से अधम है। क्षत्रियों के लिये गान्धर्व विवाह निन्दनीय नहीं है। उनके यहाँ स्वयंवर होता है। कन्या एवं वर दोनों की अनुमति होने से ही यह विवाह हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज दुष्यन्त के मन्त्री और पुरोहित चले गये और वे शकुन्तला के साथ अकेले ही रह गये, तब उन्होंने बड़े स्नेह से उससे कहा—"सुन्दरि! तुम राजकुमारी हो, वन में रहने योग्य नहीं हो। तुम तो महलों को सुशोभित करने योग्य हो।"

शकुन्तला ने लजाते हुए कहा—"महाराज! मेरा तो जन्म ही वन में हुआ है, वन में ही मैं पली हूँ। वन के पशुओं के साथ ही मेरा जीवन व्यतीत हुआ है। महलों में तो राजा-रानी रहते हैं। हम तपस्वियों के भाग्य में तो वन ही है।"

राजा ने कहा—"रानी कहीं अग्नि की ज्योति में से तो निकलती नहीं। क्षत्रिय-कन्यायें जब राजा के साथ ब्याही जाती हैं,

तब वे रानी बन जाती हैं। मैं इस समस्त भूमण्डल का राजा हूँ, तुम मेरे साथ विवाह कर लो। तुम भी रानी बन जाओगी फिर, दास दासियाँ तुम्हें सुवर्ण तथा मणिमुक्ताओं के आभूषणों से सजाया करेंगी, तुम्हें नित्य नूतन रेशमी वस्त्र पहनाया करेंगी तुम्हारे अंग में दिव्य अंगराग लगाया करेंगी, भाँति भाँति के उबटन लगाकर तुम्हें नहलाया करेंगी सदा तुम्हारी आज्ञा की बाट जोहा करेंगी। सभी तुम्हारे सम्मुख हाथ जोड़े खड़े रहेंगे मेरा सर्वस्व तुम्हारा ही हो जायगा, मैं भी तुम्हारे ही अधीन होकर रहूँगा।"

यह सुनकर शकुन्तला लज्जित हुई। उसका मुख लाल हो गया, प्रसन्नता के कारण हृदय भर गया। साँस फूलने लगी, आँखों में अनुराग छा गया। वह कुछ रुक-रुक कर बोली—'हे नरदेव! आप जानते ही हैं, मैं विवाह करने में स्वतन्त्र नहीं, अपने पिता के अधीन हूँ। मेरे पिता जिसके साथ मेरा विवाह कर देंगे, उसी के साथ मैं चली जाऊँगी। मुझे तो कुछ कहने का अधिकार ही नहीं।"

राजा ने पूछा—"तुम्हारे पिता ने किसी को वाग्दान दिया है क्या ?"

शकुन्तला ने कहा—"जहाँ तक मुझे स्मरण है, मेरे पिता ने अभी किसी से मेरे विवाह की चर्चा ही नहीं की। यदि वह ऐसा करते, तो मुझसे अवश्य पूछ लेते। वह मुझे अत्यन्त प्यार करते हैं।"

राजा ने कहा—"अच्छा, यह बताओ, तुम्हारी इच्छा मुझे पति बनाने की है या नहीं। क्या तुम मुझे अपने अनुरूप नहीं समझती ?"

अत्यत ही लजाती हुई सकोच के स्वर में शकुन्तला ने कहा—

"महाराज ! ऐसा प्रश्न करके आप मुझे क्यों लज्जित कर रहे हैं। संसार मे ऐसी कौन युवती होगी, जो आपको आत्मसमर्पण करने मे अपना परम सौभाग्य न समझे। मर्त्यलोक की ललनाओं की तो बात ही क्या, स्वर्ग की सुन्दरी देव-कुमारी भी आपको अपना पति बनाने में अपना गौरव समझेंगी। मेरे चाहने से ही तो सब कुछ नहीं हो सकता। मैं अपने पिता से और अधर्म से बहुत डरती हूँ। धर्म-विरुद्ध में कुछ भी नहीं कर सकती। प्राणों को में सहर्ष छोड सकती हूँ, किन्तु धर्म को कभी नहीं छोड सकती।"

राजा ने कहा—"मैं तुम्हे धर्म छोडने को तो कह नहीं रहा हूँ। तुम युवती हो, प्राप्तवयस्का हो, राजकुमारी हो। युवती क्षत्रिय कन्याओं को स्वय वर-वरण करने को पूर्ण अधिकार है। उनके लिये गान्धर्व विवाह गर्ह्य नहीं, प्रशसनीय है, अधर्म नहीं, धर्म है, कनिष्ठ नहीं, उत्तम है, अयशस्कर नहीं, यशस्कर है, अकीर्तिकर न होकर कीर्तिकर है। तुम मेरे साथ गान्धर्व विधि से विवाह कर सकती हो। महामुनि कण्व धर्मज्ञ हैं, वे इसका अवश्य अनुमोदन करेंगे। यदि मेरे ऊपर तुम्हारी कृपा है, तो इसी समय तुम मेरे साथ विवाह कर लो।"

शकुन्तला ने कहा—"महाराज ! यदि में स्वय वर-वरण करने मे स्वतन्त्र हूँ, यदि धर्म और नीति के विरुद्ध नहीं है, तो मुझे आप को पति बनाने में परम प्रसन्नता है, किन्तु यहाँ मन्त्र पाठ करने वाले पुरोहित तो है ही नहीं।"

राजा ने कहा—"विवाह के मन्त्रो को तो मैं जानता हूँ। न भी जानता होता, तो गान्धर्व विवाह में मन्त्र न भी पढे जायँ, तो भी धर्म विरुद्ध नहीं होता। दोनों प्रतिज्ञा पूर्वक पाणिग्रहण कर लें, एक दूसरे को आत्मसमर्पण कर दें, यही यथेष्ट है।"

शकुन्तला ने कहा—' यदि यही शास्त्रीय आज्ञा है, तो मुझे आपको आत्म-समर्पण करने में कोई आपत्ति नहीं । किन्तु, आपको एक प्रतिज्ञा करनी होगी ।"

राजा ने कहा—"वह क्या ?"

शकुन्तला बोली—"राजाओं का चित्त चञ्चल होता है, उनके अनेक रानियाँ होती हैं । आप प्रतिज्ञा करें, मेरे गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वही राज्य का अधिकारी माना जायगा ।"

राजा ने अत्यन्त ही उल्लास के साथ कहा—"प्रिये ! तुम मेरे ऊपर अविश्वास क्यों करती हो ? तुम्हें पुत्र तो न जाने कब होगा, मैं आज ही अपना तन, मन, धन, राज पाट तथा सर्वस्व तुम्हें समर्पित करता हूँ । मैं सत्य को साक्षी देकर प्रतिज्ञा करता हूँ, कि तुम्हारे गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा, उसे ही मैं अपने राज्य का अधिकारी बनाऊँगा । मैंने आज तक कभी मिथ्या भाषण नहीं किया । आशा है, तुम्हें मेरी शपथ पर विश्वास हो गया होगा । अब तुम अपने कमल से भी कोमल कर को मेरे हाथ में दो, जिसमें सुन्दर लाल-लाल चमकीले नख हैं, जिसका मणिबन्ध अत्यन्त ही कोमल है, जिसे मधुलोलुप भ्रमर सरोरुह समझकर उसके आस पास मँडरा रहे हैं, उसे मेरे हाथों में रख दो ।"

यह सुनकर शकुन्तला ने अनुराग पूर्ण हृदय से अपने कमल से भी कोमल कर को महाराज की ओर बढाया । महाराज ने उस सुकुमार कर को उसी उत्कण्ठा से ग्रहण किया, जिस उत्कंठा से अत्यन्त बुभुक्षित पुरुष भोजन ग्रहण करता है । अत्यन्त पिपासित जैसे सुन्दर-सुगन्धित स्वच्छ सलिल को ग्रहण करता है, लोभी जिस प्रकार धनराशि ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा ने शकुन्तला के कर को आदर, उल्लास और अनुराग के साथ

अपने हाथ मे लिया। फिर दोनों ने वेद मन्त्रों से एक दूसरे के साथ आजीवन धर्मपूर्वक रहने की प्रतिज्ञा की। स्वर्ग मे देवता और पितर इस मङ्गलमय गान्धर्व विवाह को देखकर मुदित हो रहे थे। वे नव-दम्पति के ऊपर कल्पवृक्ष के कुसुमों की वृष्टि कर रहे थे। आश्रम के वृक्ष हिल-हिलकर इसका अनुमोदन कर रहे थे। पवनदेव दोनों के उत्तरीय वस्त्रों को उडाकर ग्रन्थि बन्धन करने का उपक्रम कर रहे थे। शकुन्तला की सखी मन ही मन प्रसन्न हो रही थी कि अब तो मेरी सखी राजरानी हो गई। वृद्धा तापसी उसी प्रकार प्रमुदित हो रही थी, जिस प्रकार कोई कल्पलता को पाल-पोषकर बडा करे और उसमे सुन्दर पुष्प और फल आ जायँ। आज उसने अपने श्रम को सफल समझा। राजा ने समझा—अनमोल वस्तु मिल गई। शकुन्तला ने समझा—"मेरा जीवन सार्थक हो गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार गान्धर्व विवाह होने के अनन्तर महाराज ने हार के स्थान में अपनी विशाल भुजा को शकुन्तला के गले का हार बना दिया। नवे वधू को उपहार में हार देना चाहिये। वहाँ हार कहाँ था, अतः बाहुहार पहनाकर वे उसे समीप के सघन कुञ्जों मे ले गये।"

छप्पय

करि गान्धर्व विवाह होहु पत्नी तू मेरी।
सब विधि इच्छा करूँ सकल पूरन हौं तेरी॥
राज, पाट, धन-धाम, वस्तु सब मेरी जो है।
देह, प्रान, सर्वस्व आज तें तेरो सो है॥
बोली सोचि शकुन्तला, यदि अधर्म है नहीं नृप।
करूँ वरन यदि मम तनय, होहि सकल भू को अधिप॥

पुत्रवती शकुन्तला

[७७१]

अमोघवीर्यो राजर्षिर्महिष्यां वीर्यमादधे।
श्वोभूते स्वपुरं यातः कालेनासूत सा सुतम् ॥*

(श्री भा०, ९ स्क०, २० अ०, १७ श्लोक)

छप्पय

नृप स्वीकारयो, भयो ब्याह गान्धर्व तुरत तहँ।
पति-पत्नी बनि भये निरत दोउ रति-सुख महँ॥
मुनि-तनया तन अरपि अतिथि कूँ अति सुख दीन्हों।
रज अरु वीर्य अमोघ गरभ थापन नृप कीन्हों॥
भयो प्रात अति कष्ट तैं, विलग भये दोउ बिकल।
रति-श्रम प्रिया-वियोग तैं, दोउनि के सब अँग शिथिल॥

जो सदा व्यर्थ की झूठ-सच बात बोलते रहते हैं, उनकी वाणी का कोई महत्त्व नहीं, कोई मूल्य नहीं। लोग उनकी बातों पर विश्वास नहीं करते, उनके वाक्यों पर आस्था नहीं रखते। किन्तु, जो मौन के द्वारा वाणी का संयम करते है, असमय मे

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—राजन्! अमोघवीर्य राजर्षि दुष्यत ने अपनी रानी शकुन्तला मे वीर्य स्थापित किया। प्रातःकाल होते ही दूसरे दिन व अपने नगर को चले गये। समय आने पर शकुतला ने एक पुत्र उत्पन्न किया।"

अनावश्यक असत्य बात नहीं बोलते, उनकी वाणी अमोघ हो जाती है। वे ही शाप और वरदान देने में भी समर्थ होते हैं। इसी प्रकार जो कामवश होकर रज और वीर्य का व्यर्थ ही अपव्यय करते हैं, क्षुद्र-इन्द्रिय सुखों के वशीभूत होकर धर्माधर्म का, गम्यागम्य का कुछ भी विचार न करके उनका व्यर्थ उपयोग करते हैं, उनका रज-वीर्य मोघ हो जाता है, व्यर्थ बन जाता है। इसके विपरीत जो सदाचार के पथ का कभी परित्याग नहीं करते, धर्म-बन्धन को ढीला नहीं होने देते, आर्य-संस्कृति की रक्षा करते हुए कामवश होकर भी अनुचित कार्य नहीं करते, वे अमोघ वीर्य होते हैं। उनका वीर्य जहाँ भी पड़ेगा, व्यर्थ नहीं जायगा। इसीलिये तो राजर्षि-महर्षियों का अमोघ वीर्य, पशु-पक्षी तथा वृक्षों में जहाँ भी च्युत होता, वहीं से सन्तान की उत्पत्ति हो जाती।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! सायंकाल की गोधूलि में शकुन्तला और दुष्यन्त का पाणिग्रहण-संस्कार हुआ। पुनः अनुराग-भरित हृदय से, राजा के बाहुपाश में आबद्ध शकुन्तला रतिके समान उस अपने ही लगाये उपवन में भ्रमण करने लगी। तापसी कुटिया पर ही थी। सखियाँ राजा-रानी का अनुगमन कर रही थीं। वे बताती जाती थीं— "महाराज ! यह सुवर्ण मल्लिका पर, जो आप पीली-पीली खिली हुई कलिका देख रहे हैं। इसे बड़े श्रम से मेरी सखी शकुन्तला ने लगाया है। इसे लताकुञ्ज बनाने का बड़ा व्यसन है। ये जो सम्मुख पुष्पों के भार से नत हुई माधवी की सघन कुञ्जें दिखाई देती हैं, इनका मेरी सखी ने बड़ी कला के साथ निर्माण किया है। पहले मिट्टी के खम्भे बनाकर उनके सहारे इनकी जड़सहित डालियाँ लगाई गईं, फिर बड़े बाँसों पर इन्हें चढ़ाकर वृक्षों में लिपटा दिया। वृक्षों पर फूली हुई माधवी ऐसी लगती है, मानों वृक्ष ही फूल रहे हों। मेरी सखी को कमलों से

अत्यन्त ही अनुराग है। यह जो पुष्करिणी दिखाई देती है, इसे हम सबने मिलकर बनाया था। मालिनी नदी से स्रोत लाकर इसे परिपूर्ण किया था, भगवान् कुलपति से कहकर दूर-दूर से रंग-बिरंगे कमल मँगाये थे। इतने अच्छे कमल आसानी से कहीं नहीं मिलते। आप देख रहे हैं, ये मछलियाँ कैसी फुदक रही हैं। जल ही इनका जीवनाधार है। अपने जीवनाधार के वक्षस्थल में ये कैसी क्रीडा कर रही हैं। कमलों को हिला रही हैं। देखिये कमल सूर्यास्त होने के कारण मुँद रहे हैं। अभी अर्ध विकसित कलिका के समीप ही यह भूला भटका भ्रमर आ गया, आते ही फँस गया। अब यह रात्रिभर इसी के अंक में बन्दी बना, पड़ा रहेगा। यह उड़ नहीं सकता। सम्मुख जो सघन केलों का कुञ्ज है, उसके आस पास ये विधारा की लताएँ कितनी सघन हैं। शकुन्तला के पालित हिरण यहीं निवास करते हैं। यह जो काले सींगों वाला हिरण है, इसका एक इतिहास है। हम लोग एक दिन वन में घूम रही थीं। वहाँ एक वधिक ने एक हिरणी को मार डाला, यह उसका शिशु था। अकेला इधर उधर तड़प रहा था। शकुन्तला ने इसे प्यार से गोद में उठा लिया, आश्रम में ले आई, पुत्र की भाँति इसे पाला-पोसा और दूध पिलाया, तनिक बड़ा हुआ, तो इसका एक हिरणी के सङ्ग विवाह कर दिया। उसने विवाह के समय वर दिया—"जैसे तुमने इस आश्रम में मेरी जोड़ी मिला दी है, वैसे ही एक दिन तुम्हारी भी यहाँ जोड़ी मिलेगी।" सो उसका वर आज सफल हुआ। मुझे काम है, वह पीली गौ मुझसे ही भिजती है, दूसरे को दूध दुहने नहीं देती "अब मैं दूध दुहने जाती हूँ।" यह कहकर वह चल दी। शकुन्तला ने उसे बहुत पुकारा—"अरे, सत्या! कहाँ चली? मुझे अकेले क्यों छोड़ती है? सुन तो सही।"

उसने अनसुनी करते हुए कहा—"मुझे सुनने का अवसर नहीं। अकेली क्यों हो, अब तो तुम्हारे रक्षक, भर्ता महाराज साथ ही हैं।" यह कहकर वह आँखों से ओझल हो गई। महाराज उस निवास और केला-कुञ्ज को देखकर अत्यन्त ही प्रमुदित हुए। रात्रि उन्होंने वहीं बिताई। अमोघवीर्य राजर्षि ने अपनी धर्म-पत्नी में वहीं गर्भाधान-संस्कार किया।

प्रातःकाल हुआ। राजा का शरीर शिथिल हो गया था। अतः उन्हें लज्जा, संकोच, भय तथा चिन्ता होने लगी। जब मनुष्य काम के प्रबल वेग में पड जाता है, तब बड़ों का संकोच, धर्म-अधर्म का भय, कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान उसे रहता ही नहीं, काम वेग शान्त होते ही फिर विचार आता है। अब राजा ने सोचा—"ऋषि आश्रम में आकर मैंने कैसा अनुचित कार्य कर डाला। ऋषि की बिना अनुमति से शकुन्तला से ऐसा प्रस्ताव मुझे नहीं करना चाहिये था। मैंने उस छल कपट रहित भोली-भाली सरला को स्वार्थमय धर्म बताकर ठग लिया। मुनि यदि क्रुद्ध हों, तो मेरे सम्पूर्ण राज्य को शाप देकर भस्म कर सकते हैं।" इन विचारों के आते ही राजा का मुख फीका पड गया। उन्होंने भयभीत होकर शकुन्तला से कहा—"प्रिये! अब मैं अपने पुर को जाना चाहता हूँ।"

शकुन्तला ने विवशता के स्वर में कहा—"अभी क्यों? अभी पिताजी आते होंगे। उनका दर्शन करके, आशीर्वाद लेकर जायँ।"

राजा ने कहा—"देवि! राज-काज बड़े कठिन होते हैं। मेरी इच्छा तो थी कि मुनि की चरण-धूलि मस्तक पर चढाकर कृतार्थ होऊँ। किन्तु, कार्य-भार से विवश हूँ। फिर कभी आकर उनके दर्शन करूँगा।"

शकुन्तला ने अपनी अनुरागभरी दृष्टि राजा को -

बोलते हुए, उनके कन्धे पर अपना सिर रखकर कहा—"फिर मैं आपके बिना कैसे रह सकूँगी ?"

राजा ने कहा—"तुम कोई चिन्ता मत करो, जाते ही मैं चतुरङ्गिणी सेना तुम्हें लेने के लिये भेजूँगा। तुम्हें राजरानी की भाँति, बड़े समारोह के साथ, मेरे मन्त्री और सेनापति ले जायँगे।"

शकुन्तला ने कहा—"महाराज! राजधानी में जाते ही मुझे भूल जायँगे। फिर स्मरण भी न करेंगे कि आश्रम में कौन मिली थी।"

शकुन्तला की नत ठुड्डी को उठाते हुए राजा ने कहा—"प्रिये! तुम कैसी बात कर रही हो! मेरे ऊपर इतना अविश्वास क्यों करती हो ?"

यह सुनकर शकुन्तला के दोनों नेत्रों से झरझर अश्रु बहने लगे। राजा का हृदय भी द्रवीभूत हो रहा था, प्रसङ्ग को अत्यन्त कारुणिक होते देखकर राजा चलने को प्रस्तुत हुए। शकुन्तला भी उनके साथ चली। उसे आज चलने में कष्ट हो रहा है, वियोग-जन्य दुःख से उसका हृदय भर रहा था। पैरों के शिथिल होने से वह कष्टपूर्वक पैर बढ़ा रही थी, राजा ने एक वृक्ष की छाया में उसे रोककर कहा—"तुम्हें कष्ट होगा, अब आगे मत चलो।"—यह कह, शीघ्रता से उसका आलिङ्गन कर वे आगे बढ़ गये। शकुन्तला का सिर चकराने लगा। वह वहीं बैठ गई। राजा तब तक दूर निकल गये थे। चोरों के समान वे अपने को छिपाये हुए जा रहे थे। आश्रम के द्वार से निकलकर वे अत्यन्त ही शीघ्र अपने शिविर में पहुँच गये और तुरन्त ही सेना को प्रस्थान की आज्ञा दे, रथ पर चढ़कर, राजधानी के लिये चले गये।"

शकुन्तला बड़ी देर तक सघन वृक्ष की छाया में पड़ी रही।

उसे पता भी नहीं, वह कब लेट गई। जब चेतना आई, उसने भूमि पर अपने को लेटा देखा। वह बहुत लज्जित हुई। उसे संसार सूना-सूना दिखाई देने लगा। अनमनी होकर वह कष्ट से उठी। वल्कल वस्त्रों को धूल उसने झाड़ी। सामने ही हँसती हुई सखी उसे दिखाई दी। आज वह उससे आँखें न मिला सकी। चुपचाप अपनी उटज मे घुस गई। सखी ने उसे स्नान कराया, वस्त्र बदले, किन्तु वह चुपचाप कपोल पर कर रखे उदास मन बैठी रही। उसे किसी के सम्मुख जाने में लज्जा लगती थी।

कुछ ही देर पश्चात् फल-फूलों की टोकरी और कुशाओं का गट्ठर लिये हुए भगवान् कण्व वहाँ आये। नित्य के स्वभाव के अनुसार उन्होंने पुकारा—"बेटी शकुन्तले!"—यह सुनकर शकुन्तला को अत्यन्त ही संकोच हुआ। वह बाहर नहीं आई। नित्य की भाँति न उसने मुनि के पैर धोये, न फलों की टोकरी सिर से उतारी। सर्वज्ञ मुनि सब-कुछ समझ गये। टोकरी उतार कर वे उटज के भीतर गये। शकुन्तला मारे लज्जा के अपने अंगों में सिमटी-सी जाती थी। मुनि ने उसके सिर पर हाथ रखा और कहा—"बेटी! क्यों अनमनी-सी हो रही हो? चित्त कैसा है?"

इतना सुनते ही शकुन्तला मुनि के पैरों पर पड़ गई और रोने लगी। मुनि ने उठाकर उसे छाती से लगाया और बोले—"बेटी! मैंने योग-दृष्टि से सब बातें जान ली हैं। तुमने कोई धर्म के विरुद्ध कार्य नहीं किया है। राजर्षि दुष्यन्त धर्मात्मा हैं, उन्हें पति बनाकर तुमने उचित ही कार्य किया है।"

मुनि को अनुकूल देखकर शकुन्तला उठी और उसने अपने पालक पिता के पैर धोये, फलों को भीतर रखा और वह अपने दैनिक कार्यों में लग गयी। अब शकुन्तला की बाल-सुलभ चचलता समाप्त हो गई। अब उसका बाल-भाव विलीन हो गया। अब वह

गर्भिणी हो गई थी। वह नित्यप्रति प्रतीक्षा करती—"राजा की सेना कब आती है, कब मैं अपने प्राणपति के पुर मे जाती हूँ। किन्तु एक-एक दिन गिनते-गिनते तीन वर्ष हो गये, न सेना ही आई न राजा का कोई सन्देश ही मिला। मारे लज्जा के वह अपने पिता से भी कुछ न कह पाती थी।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! शकुन्तला की शका सत्य निकली। राजा पुर मे जाकर आश्रम की सब बातें भूल गये। समय आने पर शकुन्तला ने एक पुत्ररत्न प्रसव किया। आश्रम भर मे आनन्द मनाया गया। स्वयं भगवान् कण्व ने उसके सभी संस्कार किये। अब शकुन्तला बालिका न रहकर पुत्रवती बन गई।"

छप्पय

कण्व-शाप तैं डरपि प्रिया तें अनुमति माँगी।
महिषी समुझि वियोग दुःख तैं रोवन लागी॥
दै आश्वासन तुरत निकसि निज पुर कूँ धाये।
इतने महँ फल-पुष्प लिये कुलपति मुनि आये॥
तब शकुन्तला लाज-वश, मुनि समीप आई नहीं।
सोचे—पितु होवें न रिस, पति परमेश्वर पै कहीं॥

शकुन्तला का पति-गृह-गमन

[७७२]

कण्वः कुमारस्य वने चक्रे समुचिताः क्रियाः ।
बद्ध्वा मृगेन्द्रांस्तरसा क्रीडति स्म स बालकः ॥
तं दुरत्यय विक्रान्तमादाय प्रमदोत्तमा ।
हरेरंशांशसम्भूत भर्तुरन्तिकमागमत् ॥ ❀

(श्री भा० ९ स्क० २० अ० १८-१९ श्लोक)

छप्पय

मुनि आश्वासन दियो ब्याह अनुमोदन कीन्हों ।
पुत्रवती हो पुत्रि हरषि कुलपति वर दीन्हों ॥
समय पाइके पुत्र जन्यो ऋषि-मुनि हरषाये ।
जात-कर्म-संस्कार कण्व विधिवत् करवाये ॥
अति सुन्दर अति स्वस्थ सुत, लखि प्रमुदित सब जन रहें ।
करे दमन सिंहादि को, सर्व-दमन सब मुनि कहें ॥

संयोग-वियोग की शृङ्खला में ही संसार आबद्ध है । जिसमें

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! वन में भगवान् कण्व ने शकुन्तला के कुमार के सभी समुचित संस्कार किये । वह बालक सिंहों को बलपूर्वक बाँधकर उनसे खेला करता था । उस दुर्धर्ष विक्रान्तशाली श्रीहरि के अंश से उत्पन्न हुये बालक को लेकर प्रमदोत्तमा शकुन्तला अपने पति के समीप स्वयं आई ।"

आना जाना लगा हो, वही संसार है, जो आवागमन से रहित है, वह संसारातीत है। प्रिय-संयोग में सुख सबको होता है और प्रिय-वियोग में सभी की आँखें गीली हो जाती हैं, हृदय द्रवित हो जाता है। जिन्हें प्रिय-अप्रिय का ज्ञान ही नहीं, वे तो पुरुष नहीं, पुरुषोत्तम हैं। जो संयोग में जितना ही सुख देता है, उसके वियोग में उतना ही दुःख भी होता है! पाषाण-हृदय हत्यारों के हृदय में भी करुणा देखी गई है। उन्हें भी प्रिय के वियोग में आँसू बहाते देखा गया है। ज्ञानी हो, अज्ञानी हो, संयोग वियोग का प्रभाव तो सब पर पड़ता ही है। यह दूसरी बात है कि उसे भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से अनुभव करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! शकुन्तला पुत्रवती हो गई। इससे आश्रम में सभी को बड़ी प्रसन्नता हुई। शकुन्तला का बालक अत्यन्त ही सुन्दर था। अत्यधिक स्वस्थ था। उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग अत्यन्त ही सुडौल थे। वह पूरे तीन वर्ष माता के गर्भ में रहा था। देखने में वह एक सिंह के शावक के समान प्रतीत होता था। शनैः-शनैः वह आश्रम के वायुमण्डल में बढ़ने लगा। उसके बाल काले और घुँघराले थे, मस्तक चौड़ा था, भौंहें धनुषाकार थीं, दोनों नेत्र कमल के समान बड़े थे, नासिका नुकीली थी, कन्धे सिंह के समान थे, बाहुएँ विशाल थीं, छाती चौड़ी थी, उदर केशरी के समान था, जघन मांसल और स्थूल थे, जानु-जंघन सुन्दर और उतार-चढ़ाव के थे, चरण लाल थे, नख कान्ति युक्त थे। उसके दाँत शुभ्र और नुकीले थे। हाथ में चक्र का चिह्न था। आश्रम के लिये वह एक खिलौना था। जो भी ऋषि-मुनि आते उसे गोद में उठा लेते और प्यार करते। वह अपनी माँ की गोद में रहता ही न था। गोद में लेने पर यथार्थ में माँ की गोद भर

जाती। दूध पीकर तुरन्त वह पृथ्वी पर उतर पड़ता और इधर से उधर घुटनों के बल चलता रहता। वह गोशाला में चला जाता बछड़ों के गले से लिपट जाता, गायों की पूँछों को पकड कर लटक जाता, सींगों को पकडकर चढ़ जाता। उसे किसी का भी भय नहीं था। शनैः-शनैः वह बडा हुआ। आश्रम मे ही उसकी

अवस्था छः वर्ष की हो गई। देखने मे वह सिंह के समान प्रतीत

होता। जहाँ भी वह सिंह की दहाड़ सुनता, दौड़कर चला जाता और उसके कान पकड़ कर खींच लाता। वह दो सिंहों को पकड़ कर लड़ा देता, जङ्गली सूअर पर चढ़ जाता, दौड़ते हुए हिरणों को पकड़ लेता, पेड़ पर चढ़े रीछ के बाल पकड़ कर पेड़ से कूद पड़ता। सब लोग उसके पराक्रम को देखकर चकित रह जाते। सबने उसका नाम "सर्वदमन" रख दिया, क्योंकि वह सभी पशुओं का दमन करता था। भगवान् कण्व के चरणों में उसकी अनन्य भक्ति थी। उनकी प्रत्येक आज्ञा का वह पालन करता था। जङ्गली भैंसों को उठाकर ऊपर फेंक देता था। शकुन्तला बार-बार कहती—"सर्वदमन! देख, देख, तू इतनी चञ्चलता करता है, किसी दिन कोई सिंह-व्याघ्र तेरे ऊपर प्रहार कर बैठेगा।"

वह कहता—"माँ! हम किसी सिंह से कम हैं क्या? मुझे सिंहों के दाँत बड़े अच्छे लगते हैं, उन्हीं को पकड़ कर गिनता हूँ। देख, मैंने दो सिंह बाँध रखे हैं। अब उन्हें लड़ाऊँगा।"

शकुन्तला कहती—"हाय! तू तो बड़ा पागल है। छोड़ दे, छोड़ दे, सिंहों को ऐसे नहीं बाँधते।" माता के गौरव से सर्वदमन सिंहों को छोड़ देते। इस प्रकार अनेक प्रकार के पराक्रम प्रदर्शित करता हुआ वह बालक सभी को आश्चर्य-चकित करने लगा।"

कुछ काल के अनन्तर कुलपति कण्व ने कहा—"बेटी! राजा ने तो फिर सुधि ली नहीं। कोई बात नहीं, तुम बिना बुलाये ही उनके महल में चली जाओ।"

शकुन्तला ने कहा—"पिताजी! राजा मेरी सुधि न लेंगे तो मैं यहीं आपके चरणों में रहकर अपने दिन काट लूँगी। आप जहाँ दश सहस्र पुरुषों का पालन करते हैं, वहाँ आपके लिये मैं क्यों इतनी भारी प्रतीत होती हूँ।"

कण्व मुनि बोले—"बेटी ! सयानी पुत्रियों को पिता के घर मे अधिक दिन न रहना चाहिये । इससे संसार मे अपवाद होता है, अकीर्ति फैलती है । पति चाहे धनी हो या दरिद्र, उसी के घर स्त्री की शोभा है । पति रहते सयानी कन्या तो घर में भारी हो ही जाती है । केवल पेट भरना ही तो पर्याप्त नहीं, गृहस्थ-धर्म का पालन भी तो होना चाहिये ।"

शकुन्तला ने कहा—"वहाँ से कोई बुलाने तो आया ही नहीं। बिना बुलाये वहाँ जाना उचित नहीं ।"

महर्षि कण्व बोले—"बेटी ! तेरा कहना उचित है । बिना बुलाये जाने से आदर नहीं होता । किन्तु पिता के घर, पति के घर, गुरु के घर तथा अपने मित्र के यहाँ बिना बुलाये जाने मे भी कोई दोष नहीं, क्योंकि ये सब अपने ही तो घर हैं ।"

शकुन्तला ने कहा—"जैसी आपकी आज्ञा । किन्तु मैं आपके बिना कैसे रहूँगी ।" यह कह कर शकुन्तला रोने लगी ।

मुनि ने अपने चार-पॉच बुद्धिमान शिष्यों को बुलाकर कहा—"तुम शकुन्तला को ले जाओ और हस्तिनापुर मे महाराज दुष्यन्त के महलों में इसे पहुँचा आओ ।"

यह कहकर मुनि ने शकुन्तला की सखी से तैयारी करने को कहा । तापसियो ने गठरी मुठरी बॉधी एक ने सर्वदमन को उठाया और अब चलने को सभी शीघ्रता करने लगे । शकुन्तला के दोनों नेत्रो से ऑसुओं की भडी लग रही थी, जिसे भी देखती उसी से लिपट जाती और फूट फूट कर रोने लगती । उसे ऐसा लग रहा था, मानों वह कहाँ जा रही है । उसका हृदय बार-बार भर आता था । आश्रम के कण कण से उसे मोह हो गया था । उसने जो वृक्ष, नन्हें-नन्हें पोधे लगाये थे, वे बडे होकर फूल-फल रहे थे । जिन हिरणों को उसने गोदी मे बिठाकर खिलाया था, रुई

के कोये से दूध पिलाया था, वे अब बडे बड़े सींगों वाले हो गये थे। फिर भी वे उसे घेरकर बच्चों की भाँति खडे थे, उसके शरीर को चाट रहे थे। शकुन्तला उन पर हाथ फेरती, पुचकारती और उनके मुँह पर अपना मुँह रखकर कहती—"मैं जा रही हूँ।"

जिन पक्षियों को वह नित्य ही नीवार के चावल डाल-डाल कर बुलाती थी, वे सब आज वृक्षों पर से उतर आये है। वे चावलों को नहीं चुगते, शकुन्तला की ओर निर्निमेष दृष्टि से देख रहे हैं और रो रहे हैं। छोटे-छोटे बटु आकर शकुन्तला को घेरे खडे थे। वे आपस मे पूछते—"जीजी आज कहाँ जा रही है ?"

कोई बताता—"अपने पति के घर जा रही है।"

बच्चे कहते—"हम सबके कुलपति तो भगवान् कण्व ही हैं।"

दूसरा कहता—"अरे नहीं वह ससुराल जाती है।"

बच्चे पूछते—'ससुराल से कब लौटकर आयेगी ?"

कोई बडा कहता—"अब क्यो लौटकर आयेगी ? ससुराल कोई लौटने के लिये जाता है।"

यह सुनकर बच्चे रोने लगते। शकुन्तला उनके मुख को चूमती और आँसू पोछते हुए कहती—"भैया, मैं शीघ्र ही आऊँगी।"

बच्चे कहते—"जीजी ! हम भी चलेंगे तेरे साथ।"

शकुन्तला कहती—"भैया, जाना तो बहुत दूर है, तुम सब थक जाओगे।"

बच्चे कहते—"सर्वदमन भी तो जा रहा है। हम उसी के साथ चलेंगे।"

दूसरे ऋषि बच्चों को समझाते—"देखो भैया ! कभी हम सब लोग चलेंगे, तब तुम चलना।"

भगवान् कण्व बार-बार चलने के लिये कह रहे थे। उनका भी हृदय भरा हुआ था। वे अपने बाहरी अश्रुओं को तो बलपूर्वक रोके हुये थे, किन्तु उनका हृदय पिघल रहा था। वह भीतर ही भीतर वह रहा था, गल रहा था। उसकी आभा उनके मुखमण्डल पर प्रत्यक्ष दिखाई देती थी। उनकी वाणी रुक गई थी। वे बड़े कष्ट से कुछ कह सकते थे।

जब मुनि ने कई बार चलने को कहा, तब शिष्य गठरी मुटरी लेकर चलने लगे। शकुन्तला ने अपने पालक पिता के पैर छुए और उनसे लिपटकर अबोध बालिका की भाँति रोने लगी। मुनि उसके सिर पर हाथ फेर रहे थे और बार-बार कह रहे थे—"बेटी! रोओ नहीं। हम कभी-कभी उधर आया करेंगे।" उन्होंने देखा, शकुन्तला की शिखा भीगी हुई है। उसके घुँघराले बँधे हुए बालों पर जलबिन्दु बिखरे हैं। मुनि को पता ही नहीं कि यह उसके नेत्रों का ही जल है।

जिस किसी प्रकार शकुन्तला को उन्होंने पृथक् किया। बच्चे रो रहे थे। हिरण पीछे-पीछे दौड़ रहे थे। वे शकुन्तला के वस्त्रों को दाँतों से दबाये हुए थे। पक्षियों के छोटे-छोटे बच्चे उसके पैरों के समीप चल रहे थे। तापसियाँ, आँसू पोंछते हुए, शकुन्तला को पकड़े, चल रही थीं। कण्व मुनि भी आश्रम के द्वार तक उसे पहुँचाने जा रहे थे। आश्रम में एक तो मालिनी सरिता बह ही रही थी, आज दूसरी करुणा-सरिता भी अकस्मात् बहने लगी, जिसके वेग में सभी आश्रमवासी बह रहे थे। सबके नेत्रों से नीर निकल रहा था। सभी विषण्ण वदन शकुन्तला का अनुगमन कर रहे थे।

आश्रम द्वार पर खड़े होकर मुनि ने कहा—"बेटी! दशों

दिग्पाल तेरी रक्षा करें। वन के अधिष्ठातृदेव तेरे अनुकूल हों। मार्ग में पवन तेरे अनुकूल चले। तुझे पथ का श्रम न हो। देवता तेरा मंगल करें। अच्छा, जा।" यह कहकर मुनि ने फिर अपने बच्चों का सिर सूँघा। पैरों पर पड़े सर्वदमन को उठाकर बार-बार उसके अरुण-वरण मुख को चूमा। उस समय सबका हृदय भर रहा था। प्रसंग को अत्यन्त ही कारुणिक होते देख मुनि पीछे हट गये। शकुन्तला रोती और बार-बार मुड़कर पीछे देखती जा रही थी। उसके पैर आगे जा रहे थे, दृष्टि पीछे थी। मन कभी आश्रम में आ जाता, कभी दौड़कर राजमहल में पहुँच जाता। इस प्रकार वह अनेक स्मृतियों के बोझ को लादे पथ में जा रही थी। शकुन्तला को दूर गई देखकर मुनि लौटकर आश्रम में आये। सहस्रों तापस-तापसियाँ उस आश्रम में रहती थीं, वे सब अब भी थीं, केवल एक शकुन्तला ही गई थी, उसी के कारण सम्पूर्ण आश्रम सूना सूना दिखाई देता था, मुनि को पग पग पर शकुन्तला की स्मृति जाग्रत हो उठती। इस लता को वह कितना प्यार करती थी। इस अशोक को उसने अपनी जन्मतिथि की स्मृति में लगाया था। इन कमलों को मँगाने के लिये उसने मुझसे कितना आग्रह किया था। इस हिरण के पीछे उसे मेरी कितनी डाँट फटकार सहनी पड़ी। फिर भी वह उसे पास ही सुलाती थी। उसने पक्षियों के पानी पीने को पेड़ में यह पात्र बाँध रखा था। नित्य नियम से वह इसमें पानी भरती। रोटी तब खाती, जब सब वृक्षों में वह पानी दे लेती। इन पुष्पों को वह कितने आनन्द और उल्लास के साथ चुनती ? कैसी सुन्दर-सुन्दर मालाएँ वह मेरे पूजन के लिये बनाती ? शाकों की कितनी क्यारियाँ उसने लगा रखी थीं।" इस प्रकार की बातें सोचते-सोचते मुनि को सायंकाल हो गया। आज न उन्होंने मध्याह्न-कृत्य ही किया और न प्रसाद

ही पाया। इस प्रकार कई दिनों तक आश्रम मे शकुन्तला का वियोग खलता रहा।

इधर मुनि के बड़े बड़े शिष्य सर्वदमन सहित शकुन्तला को लेकर महाराज दुष्यन्त की राजधानी मे पहुँचे। वे निर्भय होकर महलों में चले गये। उन्होंने राज-कर्मचारी द्वारा सूचना भेजी—'हम भगवान् कण्व के आश्रम से आये हे। उनकी आज्ञा है, हम शकुन्तला को राजा के महलो मे पहुँचा आवें। इसीलिये हम सर्वदमन-सहित शकुन्तला को लेकर आये है।"

समाचार सुनते ही राजा ने केवल मुनियों को बुलाया। मुनियों ने राजा का जय जयकर किया, कुलपति की ओर से कुशल पूछा और सब वृत्तान्त सुनाते हुए सर्वदमन-सहित शकुन्तला के आगमन का भी वृत्तान्त कहा। सब सुनकर राजा ने कहा—"मुनियो! आप निवास करें। कल राजसभा मे इसका निर्णय करूँगा। आप यज्ञशाला में निवास कर प्रसाद पावें।"

मुनियों ने कहा—"शकुन्तला हम से छोटी है। हम उसके घर मे प्रसाद कैसे पा सकते हैं? आप जब चाहे, निर्णय करें। हमे तो भगवान् कुलपति की इतनी ही आज्ञा थी, कि हम शकुन्तला को राजमहलों मे आपके समीप पहुँचा दे। सो, हमने उसे यहाँ पहुँचा दिया, आपको सूचित भी कर दिया। अब हम जाते हैं" यह कहकर राजा का जय जयकार करके शकुन्तला को राजमहल मे ही छोडकर बेचारे तपस्वी मुनि वहाँ से चल दिये, और लौटकर उन्होंने कुलपति भगवान कण्व से कहा—"भगवन्! हमने आपकी आज्ञा का पालन यथाविधि किया। शकुन्तला को सर्वदमन सहित सकुशल राजमहल मे छोडकर राजा को जताकर हम लोग लौट आये।" यह सुनकर कुलपति को सन्तोष हुआ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजमहल में शकुन्तला का किसी ने भी सत्कार नहीं किया। वह राज-द्वार के सम्मुख एक स्थान में बैठी रही।"

छप्पय

सुत-शकुन्तला सहित पठाई पुनि पति-गृह मुनि।
दुखित निहारत चली लता, तरु, खग, मृग पुनि-पुनि॥
कुलपति करुणा करी, हृदय तैं सुता लगाई।
पितु-गृह तैं ह्वै विदा, राजमहलनि महँ आई॥
सभा-भवन महँ आइकें, नृप कूँ निज परिचय दयो।
सुनि अवाक् से रहे नृप, अति विस्मय सबकूँ भयो॥

पति द्वारा शकुन्तला का अपमान

[७७३]

यदा न जगृहे राजा भार्यापुत्रावनिन्दितौ ।
शृण्वतां सर्वभूतानां खे वागाहाशरीरिणी ॥
माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः ।
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० २० अ० २०-२१ श्लो०)

छप्पय

राजा बोले—'कौन कहाँ की है तू नारी।
जान नहीं पहिचान बने तू बहू हमारी ॥'
है शकुन्तला क्रुद्ध कहे कायर तुम भूपति।
करिके छल व्यवहार बने अब इत भोरे अति ॥
करि गन्धर्व विवाह वन, गभ करया थापन तहाँ।
कण्वाश्रम महँ जन्यो सुत, है समुपस्थित यह यहाँ ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन् ! जब महाराज दुष्यन्त ने दोष रहित अपनी पत्नी तथा पुत्र को स्वीकार नहीं किया, तब सभी प्राणियों के सुनते हुए यह अशरीरी आकाशवाणी हुई—"हे दुष्यन्त ! माता तो धौंकनी के समान है। देखा जाय, तो पुत्र पिता का ही होता है। जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसी का रूप होता है। इसलिये तू इस पुत्र का भरण-पोषण कर, शकुन्तला का अपमान न कर।

सम्भावित प्रतिष्ठित पुरुषों को जान-बूझकर लोक संग्रह के लिये, अपनी मर्यादा और प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये, कभी कभी कठिन कृत्य करने पड़ते हैं। श्री रामचन्द्र जी क्या जानते नहीं थे, कि सती शिरोमणि भगवती जनक-नन्दिनी गङ्गाजल के समान विशुद्ध हैं, फिर भी उन्होंने रावण वध के अनन्तर लङ्का में उनसे अत्यन्त कठोर वचन कहे और उन्हें अग्नि प्रवेश करके साक्षी देने के लिये विवश किया। भगवती वदेही ने पति की आज्ञा शिरोधार्य की और अग्नि में प्रवेश करके अपनी पवित्रता प्रकाशित की। अग्निदेव ने स्वयं कहा—"ये निर्दोषा हैं। श्रीराम जी! इन्हें ग्रहण करें।" इतने पर भी अवध में आकर उन्होंने उनका परित्याग कर दिया। यह सब उन्होंने लोगों को दिखाने के लिये किया था, मेरे आदर्श का अनुकरण करके प्रजा मे कदाचार न फैल जाय, इसका उदाहरण उपस्थित किया था। जिनका जनता से सदा सम्पर्क रहता है, उन्हें उनके सम्मुख अपनी स्थिति स्पष्ट रखनी पड़ती है। वे ऐसा न करें, तो जनमत उनके विरुद्ध हो जाय, जनता मे उनका आदर न रहे और लोक की दृष्टि में वे गिर जायँ।

श्री सूतजी कहते हैं "मुनियो! महर्षि कण्व के शिष्यों के चले जाने के अनन्तर शकुन्तला ने अपनी सखी सहित समीप की ही अतिथिशाला म निवास किया। उनके हृदय मे बड़ी ऊहापोह हो रही थी। वह आश्रम में स्वतन्त्र पली थी। जङ्गली हिरणी के समान उसने जीवन व्यतीत किया किया था। आज अपने को राजमहल का परिधि में आबद्ध देखकर अपने को बन्दी के समान अनुभव करने लगी। रात्रि भर रोती रही। सर्वदमन श्रमित होने के कारण सो रहा था, किन्तु शकुन्तला की आँखों में नींद

कहाँ ? उसने सम्पूर्ण निशा चिन्ता, उद्विग्नता और विकलता में ही बिताई।

प्रातःकाल हुआ, नित्य कर्मों से निवृत्त होकर उसने सभापाल को सूचना दी कि वह राजा से कुछ निवेदन करना चाहती है। सभापाल ने राजा को सूचना दी। भरी सभा में उनके सम्मुख शकुन्तला को बुलाया गया। वह लजाती हुई विवश होकर सबके सम्मुख गई। राजा ने उनका न आदर किया, न बैठने को आसन ही दिया। उन्होंने उसका कुशल भी नहीं पूछा, अपराधिनी के समान वह खडी ही रही। तब राजा ने अपरिचित की भाँति पूछा—"तू कौन है ? कहाँ से आई है ? किसकी पुत्री है ?"

शकुन्तला ने कहा—"राजन् ! आप मुझे भूल गये क्या ? मैं भगवान् कण्व की पालिता पुत्री हूँ। महर्षि विश्वामित्र के द्वारा मेनका से मेरा जन्म हुआ है। शकुन्तला मेरा नाम है।"

राजा ने गम्भीर होकर पूछा—"तू चाहती क्या है ? तुझे मुझ से कुछ कहना है ? यहाँ क्यों आई है ?"

शकुन्तला ने कहा "महाराज ! आप इस प्रकार अपरिचित की भाँति मुझसे क्यों बातें कर रहे हैं ? कण्वाश्रम में आपने मेरे साथ विधिवत् गान्धर्व विवाह किया है, आपके वीर्य से मेरा यह पुत्र उत्पन्न हुआ है। भगवान् कण्व की आज्ञा से इसे लेकर मैं यहाँ आई हूँ, इसको आप युवराज-पद पर अभिषिक्त करा दें।"

राजा ने कहा—"अरे, तू कहाँ की ठगिन चली आई ! किसने तुझे सिखा-पढाकर यहाँ भेजा है ? मैंने तो आज से पहले तुझे कभी देखा ही नहीं। जान न पहचान, तू मेरी स्त्री बनती है ?"

अब तो शकुन्तला के दोनों ओठ फडकने लगे। क्रोध के कारण उसका मुख लाल हो गया। वह क्रुद्ध सिंहिनी की भाँति

राजा की ओर निहारने लगी। उसने कहा—"राजन्! आप धर्मात्मा होकर ऐसी अधर्म की बात करते हैं। मुझे ठगकर-धर्म की दुहाई देकर, आपने मेरा पाणिग्रहण किया, मेरा कन्यापन नष्ट किया, धर्म की शपथ खाकर मेरी सन्तान को राज्याधिकारी बनाने का वचन दिया, आते समय चतुरङ्गिणी सेना भेजने का आश्वासन दिया और अब ऐसी छल-कपट की बातें करते हैं? आप समझते हैं, हमारा आपका विवाह एकान्त में हुआ है, किसी ने देखा नहीं, इसलिये मैं नट जाऊँगा। स्मरण रखिये, सबके अन्तःकरण में विराजमान सर्वान्तर्यामी भगवान् तो सब कुछ देखते हैं। आदित्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, देवता, दिन, रात्रि तथा दोनों सन्ध्यायें-ये तो प्राणियों के सभी भले बुरे कर्मों को देखती हैं। धर्म से डरिये। अधर्म का आश्रय न लीजिये।"

राजा ने कहा—"तू बड़ी धर्माचारिणी है। जिसकी तू अपने को पुत्री बताती है, वह क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने का प्रयत्न करता है। जिसे तू अपनी माँ बताती है, वह स्वर्ग की वारवनिता है, उसका कोई एक पति नहीं। ऐसी ही तू उसकी पुत्री मुझे जान पड़ती है। तूने ये तपस्वियों के पहनने योग्य वल्कल-वस्त्र पहन रखे हैं। इसमें तू अपने पाप को छिपाना चाहती है। न जाने कहाँ से इस लड़के को ले आई है, उसे मेरा पुत्र बताती है। तुझे सबके सम्मुख ऐसी असत्य बातें बनाने में लाज भी नहीं आती!"

शकुन्तला ने धैर्य के साथ निर्भय होकर कहा—"राजन!" लज्जा तो आपको आनी चाहिये, जो एक अबला के साथ ऐसा अत्याचार कर रहे हैं, अपनी धर्मपत्नी को वार-वनिता बता रहे हैं। महाराज! मैंने जन्म से ही धर्माचरण किया है। मैं पाप को जानती भी नहीं। आपने ही मुझे गान्धर्व विवाह को धर्म बताया

था। धर्म समझ कर ही मैंने उसे स्वीकार किया। आपके चले आने के पश्चात् मेरे पिता भगवान् कण्व ने भी इसका अनुमोदन किया। उन्होंने आशीर्वाद दिया था, "तेरा पुत्र समस्त भूमण्डल का चक्रवर्ती राजा होगा।" क्या उन तपःपूत ब्रह्मर्षि के वाक्य मिथ्या हो सकते हैं? धर्मावतार! मैं फिर कहती हूँ, "मैं आपकी धर्म से पत्नी हूँ, यह आपका न्यायतः पुत्र है। इसे अपनाइये, गोद में लेकर प्यार कीजिये। यह कब से आपकी ओर उत्सुकता-भरी दृष्टि से देख रहा है।"

इस पर राजा ने कहा—"हे तापसी! मुझे तेरे वचनों मे सत्य की आभा भी प्रतीत नहीं होती। मैंने तुझे इसके पूर्व कभी देखा भी है, ऐसा स्मरण तक नहीं होता। तू धर्माचारिणी हो या अधर्माचारिणी, मुझे तुमसे कोई प्रयोजन नहीं। न तेरे इस साखू के समान बड़ी-बड़ी भुजाओं वाले इस पुत्र से ही कोई प्रयोजन है। तू जहाँ चाहे जा सकती है। ठहरना चाहे ठहर सकती है।" यह कह कर राजा चुप हो गये।

इस पर रोती हुई शकुन्तला बोली—"राजन्! ऐसे अनजान मत वनिये। आश्रम की वे बातें आप भूल नहीं सकते। सोते हुए को जगाया जा सकता है, किन्तु जो जागता हुआ भी सोने का स्वांग रच रहा है, उसे कोई कैसे जगावे! आप भूले हों तो स्मरण भी दिलाया जाय। आप तो जान बूझकर अनजान वन रहे हैं। राजन! मैं आपकी पत्नी हूँ, आपने मेरे उदर में वीर्य स्थापित किया है। यह पुत्र आपका ही है। ऋषियों का वचन है कि पुरुष स्वयं ही अपने वीर्यरूप से स्त्री के गर्भ मे प्रवेश करता है, इसीलिये तो पुत्रवती स्त्री की जाया संज्ञा है। पुत्रवती स्त्री का कभी अपमान न करना चाहिये। उसका सदा-सर्वदा माता के समान आदर करना चाहिये। महाराज आप मेरे कुल को क्यों दोष दे

रहे हैं। कुशिक वंश क्षत्रियों मे श्रेष्ठ वंश है। विश्वामित्र जी सभी मुनियों मे श्रेष्ठ हैं। स्वर्ग मे छः ही तो मुख्य अप्सराएँ हैं—उर्वशी, पूर्वचिती, सहजन्या, मेनका, विश्वाची और घृताची। इनमें मेनका की उत्पत्ति ब्रह्माजी से हुई है। अतः वह सर्वश्रेष्ठा मानी जाती है। उसी के उदर से मैं उत्पन्न हुई हूँ। पूर्वजन्म में मैंने कोई घोर पाप किये होंगे। तभी तो मेरी माँ मुझे हिमालय पर्वत की तलहटी में दूसरों की सन्तान के समान छोड़कर स्वर्ग चली गई। बाल्य-काल मे मैं अपने माता पिता द्वारा परित्यक्ता हुई। अब युवावस्था मे मुझे मेरे पति ने भी त्याग दिया। मेरे भाग्य में तो दुःख लिखा ही है, उसे जीवन भर भोगूँगी। किन्तु आप इस अपने बच्चे को तो अपनाइये। इसे तो अपने राज्य का अधिकारी बनाइये।"

राजा ने कहा—"तापसी! तू बड़ी निर्लज्ज प्रतीत होती है, किसी दूसरे के वीर्यज पुत्र को तू बार-बार मेरा पुत्र कह रही है। तुझे लज्जा आनी चाहिये। मैंने तुझसे एक बार कह दिया, बार-बार कह दिया, मेरा तुमसे और तेरे इस पुत्र से कोई प्रयोजन नहीं। तू यहाँ से चली जा।"

आत्मग्लानि के कारण शकुन्तला का सिर नीचा हो गया था, उसके नेत्रों से निरन्तर नीर निकल रहा था, शरीर क्रोध और लज्जा के कारण काँप रहा था। वह राजा के इस दुर्व्यवहार को सहन न कर सकी। उसने कहा—"महाराज! मैं तो जाती ही हूँ। क्या मुँह लेकर अब मैं कण्वाश्रम मे जाऊँगी? मुझे ग्लानि हो रही है, फिर भी वे मेरे पिता हैं, मेरा आजीवन भरण-पोषण करेंगे। आप अपने इस पुत्र को आज न अपनावें, किन्तु यह समस्त भूमण्डल का एक दिन सम्राट् अवश्य होगा, देवताओं और ऋषियों के वचन कभी व्यर्थ नहीं जाते। अच्छी बात है,

भगवान् आपका कल्याण करें।" यह कहकर शकुन्तला चल दी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! शकुन्तला के जाते ही आकाश से एक वाणी हुई। वाणी कहाँ से आ रही है, यह कोई जान नहीं सकता था। वह अशरीरी वाणी थी, सबको सुनाई दे रही थी। आकाशवाणी कह रही थी—"हे राजराजेश्वर दुष्यन्त! माता तो एक प्रकार की चर्म की थैली है, जैसे कोई चर्म की पेटी में द्रव्य रख दे, तो द्रव्य चर्म की पेटी का न कहलाकर रखने वाले का ही कहलायेगा। इसी प्रकार पुरुष अपनी पत्नी के उदर में अपना ही वीर्य स्थापित करता है और स्वयं ही उसके उदर से उत्पन्न होता है। इसीलिये पुत्रवती पत्नी की जाया संज्ञा है। आत्मा से उत्पन्न होने के कारण पुत्र में और पिता में कोई भेद नहीं। पिता ही नया रूप रखकर पुत्र रूप में परिणित हो जाता है। यह पुत्र आपका ही है। आप इसका भरण-पोषण कीजिये, शकुन्तला का सम्मान कीजिये, ऐसी सती-साध्वी महारानी का परित्याग करना सर्वथा अनुचित है। यह साधारण बालक नहीं है, यह आपके पश्चात् समस्त भूमण्डल का सम्राट् होगा। राजन्! आप हमारी आज्ञा से इसका भरण-पोषण करें, अतः इसका नाम भरत होगा। संसार में यह भरत नाम से विख्यात होगा।" इतना कहकर आकाशवाणी शान्त हो गई।

शकुन्तला को क्यों नहीं स्वीकार किया ? तब अपनी गोद में लेकर अपने पुत्र को प्यार क्यों नहीं किया ?"

राजा बोले—"मेरा और शकुन्तला का विवाह एकान्त में हुआ था। कोई इस बात को जानता नहीं था। यदि मैं सहसा शकुन्तला और उसके सुत को स्वीकार कर लेता, तो आप सब ही मेरे ऊपर सन्देह करने लगते। लोग अनेक प्रकार के अपवाद उठाते। इस दृष्टि से लोक दृष्टि में यह मेरी शुद्ध सन्तान न समझी जाती। अब तो आप सबके सम्मुख आकाशवाणी ने साक्षी दे दी।"

सब ने एक स्वर से कहा—"महाराज ! शकुन्तला के गर्भ से उत्पन्न पुत्र निर्दोष है, आपका ही है। देखने में ऐसा लगता है, मानो आप ही पुन बालक बन गये हैं। इसके हाथ में चक्र का चिह्न है, यह अवश्य ही आसमुद्रान्त पृथ्वी का सम्राट् बनेगा। आप इसे अपनावें और युवराज बनावें।"

सबकी सम्मति समझकर सम्राट् ने शकुन्तला सहित सर्व दमन सुत को तुरन्त बुलाया। उसे गोद मे बिठाकर उसका मुख चूमा, सिर सूँघा। पुत्र के स्पर्श से उनके रोम रोम खिल उठे। ससार में जितनी सुखदा स्पर्श-वस्तुएँ हैं, उन सब मे पुत्र के अङ्ग का स्पर्श सर्व श्रेष्ठ है। आज महाराज अपने को कृत-कृत्य समझ रहे थे। वे अपने को पितृऋण से उन्मुक्त मान रहे थे। इसके अनन्तर उन्होंने पुरोहित को बुलाकर शास्त्रोक्त विधि से पितरो के श्राद्धादि कराये। ब्राह्मणो ने स्वस्ति-वाचन किया, गन्धर्वों ने मङ्गल-गान किया, सूत, मागध, वन्दियों ने स्तुति पाठ और विनय के वचन सुनाये। बडे ही उत्साह के साथ राजा ने पुत्र को युवराज पद पर अभिषिक्त किया।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! वही सर्वदमन भरत के नाम से

ससार में प्रसिद्ध हुआ। भरत के समान दानी और यशस्वी दूसरा सम्राट् कौन होगा? इनके नाम से यह देश ही भरतखण्ड कहा जाने लगा।"

छप्पय

पुनि शकुन्तला शपथ करी भूपति नहिँ मानी।
ह्वै निराश जब चली भई तब नभ तैं बानी॥
माता धारण करे पिता की वस्तु कहावै।
पति ही बन के पुत्र नारि के तन तैं आवै॥
यह कुमार तुमरो तनय, भूप भरन जाको करो।
पितर सहित पु नरकतैं, पार जाइ सुख तैं तरो॥

दुष्यन्त-पुत्र भरत

[७७४]

भरतस्य महत्कर्म न पूर्वे नापरे नृपाः।
नैवापुर्नैव प्राप्स्यन्ति बाहुभ्यां त्रिदिवं यथा ॥*

(श्रीभा० ९ स्क० २० अ० २९ श्लोक)

छप्पय

स्वीकार्यो सुत नृपति प्रजा अनुमोदन कीन्हों।
जानि—बूझि के भूप—पुत्र अपनो नहिँ चीन्हों ॥
सब कूँ भई प्रतीत निरखि सुत सबहिँ सिहाये।
घर—घर मङ्गल भये राज महँ बजे बधाये ॥
सर्वदमन युवराज करि, नाम 'भरत' नृप ने धर्यो।
भरत-यश जिन तैं चल्यो, जग उज्ज्वल यश तैं कर्यो ॥

धार्मिक संस्कार सङ्ग से ही पड़ते हैं। बल्यकाल में बालक जैसे वायुमण्डल में पलेगा, वैसा ही प्रभाव प्रायः उसके जीवन पर पड़ेगा। माता-पिता के विचारों की तथा अपने आस-पास के

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! महाराज भरत के किये हुए महान कर्मों को न तो पिछले राजाओं ने ही किया है और न उन कर्मों को आगे के राजा ही कर सकते हैं। उनके कर्मों तक कोई उसी प्रकार नहीं पहुँच सकता, जिस प्रकार कोई अपने बाहुओं से स्वर्ग को नहीं छू सकता।"

संस्कारों की छाप बालक के कोमल स्वभाव पर अमिट पड़ जाती है। वह जीवन भर नहीं छूटती। इसीलिये बाल्यकाल से ही प्राचीन समय में पुत्र को गुरुकुल में छोड़ आते थे, जिससे वहाँ की धार्मिकता का निर्मल वायु मण्डल और सादगी का उस पर प्रभाव पड़े। जिन महापुरुषों का जन्म अरण्यों मे, ग्रामों में होता है, वे पर पीड़ा को भली भाँति समझते हैं, क्योंकि उसे वे सहन कर चुके है, उन्हें उसका अनुभव है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आकाशवाणी सुनकर तथा प्रजा के सभी लोगों से सम्मति लेकर दुष्यन्त ने शकुन्तला को ग्रहण किया, उसे सम्राज्ञी बनाया और पुत्र को युवराज पद पर अभिषिक्त किया। शकुन्तला जब रानी बन गयी, तब उसने एक दिन राजा से पूछा—"क्यो महाराज! क्या सचमुच आप उन बातों को भूल गये थे क्या? आपको मेरे साथ किये हुए विवाह का स्मरण नहीं रहा था?"

राजा ने हँसते हुए कहा—"भला कहीं विवाह की बात भूली जा सकती है? मुझे सब बातें भली प्रकार स्मरण थीं तुमसे जो मैंने प्रतीज्ञा की थी, वह भी मुझे अक्षरशः याद थी।"

शकुन्तला ने कहा—"फिर आप जान बूझकर भी अनजान क्यों बन गये थे? क्यों आपने मेरा और अपने पुत्र का तिरस्कार किया था?"

अत्यन्त ही स्नेह से राजाने कहा—"प्रिये! सम्भावित पुरुषों को सबकी सम्मति, सहयोग और सहानुभूति को साथ लेकर चलना पड़ता है। मेरा-तुम्हारा विवाह एकान्त में हुआ था। यदि वैसे ही मैं तुम्हें रख लेता, तो प्रजा के लोगों मे भाँति भाँति का प्रवाद फैल जाता। कोई कहता—राजा की यह पत्नी नहीं है, उनका यह पुत्र भी नहीं है, सुन्दरी देखकर राजा ने कोई रखेली

रख ली है। कोई कहता - राजा का इससे अनुचित सम्बन्ध है, यह उनकी व्यभिचारजनित सन्तान है। कोई कुछ कहता, कोई कुछ। यह संसार तो बहुमुखी है। परछिद्रान्वेषण में लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। मैं सोच रहा था, अपनी सत्यता कैसे प्रकट करूँ। अब सबके सम्मुख आकाशवाणी हो गयी, सबने समझ लिया कि हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध धार्मिक है, यह पुत्र धर्मतः मेरा ही तनय है। तो हम तुम दोनों ही निर्दोष सिद्ध हो गये। ऐसा न करता, तो मेरा-तुम्हारा—दोनों का लोक में अपवाद फैलता। इसीलिये मैंने तुम्हारे साथ ऐसा स्नेहहीन तुच्छ व्यवहार किया। तुम मेरी धर्मतः अत्यन्त ही प्यारी पत्नी हो, मेरे इस दुर्व्यवहार की ओर तुम ध्यान न देना। मैंने तुम्हारे कल्याण के लिये ही यह कठोरता की थी।"

यह सुनकर शकुन्तला के दोनों नेत्र प्रेमाश्रुओं से भर आये। वह अपने पति के पैरों में पड़ गयी और रोते-रोते बोली—"प्राणनाथ! आपने तो मेरे हित के ही लिये यह सब किया, किन्तु मैं मन्दमतिवाली अबला इस रहस्य को न समझ सकी। मैंने क्रोध में भरकर आप से न कहने योग्य बातें कहीं। मैंने अपने प्राणनाथ परमेश्वर का अपमान किया। इससे मैं किन नरकों में जाऊँगी ?"

अपनी प्यारी पत्नी को बलपूर्वक पैरों से उठाकर छाती से लगाते हुए महाराज बोले—"प्रिये! तुमने जो भी कुछ कहा, सती-साध्वी स्त्रियों के अनुरूप ही कहा। इतनी कठोरता पर ऐसी बातें कहने का तुम्हें अधिकार था। फिर तुम्हें दुःख हो रहा है, तो मैं तुम्हारी उन सभी बातों को हृदय से क्षमा करता हूँ। तुम प्रसन्न हो जाओ, उन बातों को भूल जाओ। वे बातें यथार्थ नहीं थीं, नाटक जैसा अभिनय था। स्वप्न का-सा संवाद था। अब

तुम मेरे साथ रहकर सभी ससारी सुखों को भोगो और अपने पुत्र को युवराज पद पर अभिषिक्त हुआ देखो।"

इस प्रकार जब दोनो मे प्रेम की बातें हुइ, तब दोना का हृदय आनन्द से भर गया, दोनों ही सुखपूर्वक ससारी भोग भोगने की लगे। कभी-कभी राजा शकुन्तला को रथ पर बिठाकर कण्वाश्रम दिखाने ले जाते। आश्रम में पहुँच कर शकुन्तला उसी प्रकार सबसे स्नेहपूर्वक मिलती, उसे राना होने का तनिक भी अभिमान नहीं था। कभी कभी राजा भगवान् कण्व को भी बुलाते थे। कालान्तर मे जब भरत बडे हो गये, तब महाराज राज पाट सब उसे सौंप कर शकुन्तला के साथ तपस्या करने वन मे चले गये, और वहाँ वानप्रस्थो के नियमों का पालन करते हुए परमपद को प्राप्त हुए।

महाराज दुष्यन्त के अनन्तर इस सप्तद्वीपवती समस्त वसुन्धरा के स्वामी दुष्यन्त पुत्र भरत हुए। वे बडे ही धर्मात्मा थे। उन्हे ऋषियों ने भगवान् का अंशावतार बताया है।

महाराज भरत के दक्षिण हस्त मे चक्र का चिन्ह था और चरणों मे पद्मकोश सुशोभित था। उनका राजाधिराज पद पर पृथ्वी के समस्त राजाओं और ब्राह्मणों ने विधिवत् अभिषेक किया था। अङ्गिरा पुत्र उतथ्य की पत्नी ममता के गर्भ से उत्पन्न महर्षि दीर्घतमा को उन्होंने अपना पुरोहित बनाया था। समस्त भूमण्डल तो उनके अधीन ही था, अब वे अपना वैभव कैसे प्रकाशित करें, किसमे अपनी शक्ति लगावें। यह सोचकर उन्होंने धर्मोपार्जन को ही अपना कर्तव्य समझ लिया। वे यज्ञों के अनन्तर यज्ञ करने लगे। पहले उन्होंने गङ्गाजी के तट पर अश्वमेध आरम्भ किये। पहले उन्होने गङ्गाजी के तट पर इस प्रकार पचपन यज्ञ किये। गङ्गा तट पर यज्ञ करके अब उन

पर उन्होंने यज्ञों का विस्तार किया। अठहत्तर यज्ञ उन्होंने भगवती कालिन्दी के कूल पर किये। इन यज्ञों में उन्होंने कितना दान दिया, कितना धन बाँटा, इसकी कोई सख्या नहीं। उनका अग्नि-चयन अत्यन्त ही धूमधाम से होता था। अग्नि चयन-कर्म में सर्व प्रथम ब्राह्मणों को गो-दान दिया जाता है। सहस्रों ब्राह्मणों को वे यज्ञ मे वरण करते थे और सभी को एक-एक वद्ध गायें दिया करते थे।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! एक वद्ध में कितनी गाएँ होती है?"

सूतजी बोले—"महाराज! १४ लक्ष गायों के १०७ वें भाग को वद्ध कहते हैं। उसमें १३ हजार ८४ गायें होती हैं। कहीं कहीं ऐसा भी बताया जाता है कि गायों के झुण्ड में वेग से एक डन्डा फेंके। जितनी गायों को वह लाँघ जाय, उन सबकी भी वद्ध सज्ञा है। अर्थात् सहस्रों गायों के झुन्ड का नाम एक वद्ध है। महाराज! उस समय गायें ही धन थीं। प्रत्येक कर्म में प्रथम गो-दान हो जाता था, तब कोई दूसरा कार्य होता था। महाराज भरत ने यज्ञों में अपना ऐसा वैभव प्रदर्शित किया कि सभी भूमण्डल के राजा उनके ऐश्वर्य से आश्चर्य-चकित रह गये। देवताओं के यज्ञों में भी ऐसा ऐश्वर्य देखने में नहीं आता था। उन्होंने अपने यज्ञों के यूप में तैंतीस सौ घोड़े बाँधकर सबको विस्मित बना दिया। सोम-यज्ञों में मष्णार नामक यज्ञ कार्य में उन्होंने ब्राह्मणों को चौदह लाख हाथी दान में दिये। वे हाथी ऐसे वैसे हाथी नहीं थे। पर्वत के समान उनका बड़ा डीलडौल था उनका रंग कृष्ण था, दाँत सफेद थे। सुवर्ण के आभूषणों से वे मण्डित थे। उनके ऊपर सुवर्ण के काम वाली रेशम की झूलें पड़ी थीं। सुवर्ण की शृङ्खला में वे बँधे थे। चलते फिरते पर्वत के समान वे प्रतीत होते थे।

उनके सभी कर्म अद्‌भुत थे। यज्ञों मे उन्होंने जैसी दान-दक्षिणा दी, वैसा दूसरा दे ही नहीं सकता।

उस समय पृथ्वी पर धर्म विरोधी, विप्रो से द्वेष करने वाले किरात, हूण, यवन, अन्ध्र, कङ्क, खश, शक आदि बहुत से अनार्य राजा थे। उन सब को महाराज भरत ने नष्ट कर दिया। इस प्रकार पृथ्वी को उन्होने अनार्यों के आधिपत्य से उन्मुक्त कर दिया। उनके राज्य मे कोई धर्म-विरोधी नास्तिक और नीच राजा नहीं रहा था। असुर उनके समय मे पृथ्वी छोडकर पाताल में चले गये थे। पाताल मे स्वर्ग का-सा सुख भोगते हुए सुखपूर्वक रहते थे। भरत से पूर्व असुरों ने देवताओ पर चढाई की और बहुत सी देवाङ्गनाओ को वे स्वर्ग से पकडकर रसातल मे ले आये थे। वे बेचारी बन्दिनी बनी रसातल में दिन काट रही थीं। महाराज भरत रसातल पर चढाई करके उन्हे जीतकर उनसे देवाङ्गनाओं को पुनः लौटा लाये थे।

महाराज भरत ने यथेच्छ संसारी सुख भोगे। इच्छानुसार दान-धर्म किया, समस्त याचकों की मनोकामनायें पूर्ण कीं, अनुपम दिव्य ऐश्वर्ययुक्त अनेक यज्ञ किये, देवताओं को हव्य से, पितरों को कव्य से, अतिथि, अभ्यागत, विप्रो, गुरुजनो और आश्रितो को दान, मान तथा सत्कार से सन्तुष्ट किया। लोकपालों के जैसे अनुपम ऐश्वर्य का उपभोग किया, उन सार्वभौम सम्राट् ने सभी सुखदा सामग्रियो का संग्रह किया और उनको यथा योग्य वितरित किया। इस प्रकार सत्ताईस सहस्र वर्षो तक वे वसुन्धरा का धर्मपूर्वक पालन करते रहे। अन्त मे उन्हे विषयो से विराग हुआ। उन्हें सार्वभौम सम्राट् की सम्मत सुखदा सम्पत्ति, अप्रतिहत अटल अनुशासन, तथा प्रिय पदार्थों से भी प्यारे प्राण भि नश्वर तथा क्षण भंगुर दिखाई देने लगे। उन्होंने सोचा—

के उपभोग मे सुख नहीं शान्ति नहीं।' ऐसा निश्चय करके वे समस्त ससारी सुखों से उपरत हो गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज भरत के पश्चात् उनके दत्तक पुत्र वितथ राजा हुए।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! ये वितथ कौन थे? किसके पुत्र थे? महाराज भरत ने उन्हें दत्तक पुत्र क्यों बनाया। कृपा करके हमे इन सब बातो को सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी अनमने होकर बोले—"महाराज! बडों की बडी बातें होती हैं। वितथ की उत्पत्ति की बात आप न पूछें, तो ही अच्छा है। उनकी उत्पत्ति ऐसे ही सट्ट पट्ट हुई है। अच्छी बात है, मुझे भरत वश की कथा कहनी ही है। उसी के प्रसङ्ग में भरत पुत्र वितथ की भी उत्पत्ति सक्षेप मे कहूँगा। अब आप भरत वश की ही कथा श्रवण करें।"

छप्पय

भरत सरिस जग माँहिँ वीर को ज्ञानी दानी।
परम यशस्वी युद्ध-क्षेत्र महँ अति ही मानी॥
अगणित दीये दान अश्व, भू, रथ, गज, गोधन।
कीये रिपुवश बाह्य भीतरी मन इन्द्रियगन॥
भोगे सब संसार सुख, तोऊ तुष्ट न नृप भये।
भोग सकल मिथ्या समुझि, उपरत तिन तैं ह्वै गये॥

भरत-वंश की कथा

[७७५]

वितथस्य सुतो मन्युर्बृहत्क्षत्रो जयस्ततः ।
महावीर्यो नरो गर्गः संकृतिस्तु नरात्मजः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० २१ अ० १ श्लोक)

छप्पय

नृप-विदर्भ की सुता सुन्दरी राजदुलारी।
पत्नी तिनकी तीनि सुशीला अति सुकुमारी॥
तिन तैं जे सुत भये भरत अनुरूप न माने।
त्यागे पत्नी वंश वितथ लखि नृप खिसियाने॥
भाभी ममता गर्भ तैं, पैदा सुरगुरु करयो सुत।
त्यागि दयो पितुमातु ने, मरुत उठायो शिशु तुरत॥

देवता हो, मनुष्य हो, ऋषि मुनि चाहे जो हो, जब उसे काम का वेग होता है, तब कर्तव्याकर्तव्य का विवेक उसे नहीं रहता। जिसके समीप भोग्य सामग्रियाँ यथेष्ट हैं, उन्हें उनके अभाव की स्थिति का सहज अनुभव नहीं होता। खाने पीने की सब वस्तुएँ घर में विपुल परिमाण में होती हैं, तो मदाग्नि हो जाती है, भूख

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं —'राजन्! भरत पुत्र वितथ के सुत मन्यु हुए। मन्यु के बृहत्क्षत्र, जय, महावीय, नर और गर्ग—ये पाँच पुत्र हुए उनमें से नर के पुत्र संकृति हुए।"

ही नहीं लगती। जब अन्न क्षय हो जाता है, तब जठराग्नि भी बढ़ जाती है, भूख भी अधिक लगती है। धनी लोग निर्धनों की स्थिति का अनुभव नहीं कर सकते। जो विषयी हैं, रात्रि दिन विषयों मे ही लिप्त रहते हैं, वे काम के वेग को क्या जानें, वे तो कूकर, शूकर, कबूतर आदि की भाँति रात्रि दिन विषय भोगों में ही संलग्न रहते हैं। जो विषयों से पृथक् रहकर इन्द्रियजित होने का प्रयत्न करते रहते हैं, वे ही समझ सकते हैं कि विषयों के सान्निध्य होने से वासना कितनी प्रबल हो जाती है। क्षुद्र लोग अपने पापों को छिपाते हैं, महापुरुष अपनी निर्बलता को सबके सम्मुख प्रकट कर देते हैं। यही उनकी महत्ता है।

श्री सूतजी कहते हैं—मुनियो! दुष्यन्त-पुत्र राजर्षि भरत के तीन रानियाँ थीं। वे तीनों विदर्भ देश के महाराज की पुत्री थीं। राजा उन्हें अत्यन्त प्यार करते थे। उन तीनों के तीन-तीन पुत्र हुए। किन्तु उन सभी को राजा ने अपने अनुरूप नहीं समझा। न जाने क्यों, राजा को यह सन्देह हो गया कि ये मेरे पुत्र नहीं हैं। रानियों को बड़ा भय हुआ, कि राजा को हमारे ऊपर सन्देह न हो जाय, अतः उन सब ने अपने पुत्रों का बध करा दिया। अब राजा अनपत्य हो गये। उनके कोई सन्तान नहीं रही। वंश परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे, इसीलिये उन्होंने मरुद्गण के उद्देश्य से बड़ा यज्ञ किया। सन्तान की कामना से मरुतों का उन्होंने यजन किया। मरुतों ने एक सुन्दर-सा पुत्र लाकर राजा को दिया। यह पुत्र बृहस्पतिजी के बड़े भाई उतथ्य की पत्नी ममता के गर्भ से भगवान् बृहस्पति के वीर्य द्वारा उत्पन्न हुआ। ममता के अपने पति उतथ्य से जो पुत्र हुआ, वह बृहस्पतिजी के शाप से उदर से ही अन्धा उत्पन्न हुआ। इसीलिये उनका नाम दीर्घतमा रखा गया। यह जो ममता और

बृहस्पति के द्वारा पुत्र हुआ, वह दो से होने के कारण द्वाज कहलाया। ममता ने बृहस्पति से कहा—"हे बृहस्पति! तुम इस द्वाज का भरण-पोषण करो।" बृहस्पतिजी ने कहा "तू ही इस द्वाज को भर—अर्थात् भरण-पोषण कर।" दोनों ने ही उस पुत्र का भरण-पोषण नहीं किया। पुत्र बड़ा ही सुन्दर और परम तेजस्वी था, अमोघवीर्य देवगुरु भगवान बृहस्पतिजी के वीर्य से उत्पन्न हुआ था! दोनों ने उसका भरण-पोषण नहीं किया! दोनों ही उस द्वाज को अरण्य में छोड़कर चले गये। मरुतों ने उसका भरण-पोषण किया। इसलिये वह 'भरद्वाज' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

मरुतों ने प्रसन्न होकर उस भरद्वाज को ले जाकर महाराज भरत को दिया। राजर्षि भरत ऐसे सुन्दर तेजस्वी सुत को पाकर परम प्रमुदित हुए। उन्होंने उसे अपना सगा पुत्र ही समझा। उसका एक नाम वितथ भी हुआ। वितथ कहते हैं, जो अन्याय से जन्मा हुआ हो। इधर भरत-वंश वितथ अर्थात् उच्छिन्न हो रहा था। उसी समय यह पुत्र प्राप्त हुआ। इसलिये इसका नाम वितथ ही प्रसिद्ध हुआ। महाराज ने उसे ही अपने राज्य का अधिकारी बताकर युवराज-पद पर अभिषिक्त किया। उस पुत्र को पाकर महाराज हर्षित हुए और पीछे उसे राज्य देकर वे वन चले गये।

महाराज वितथ अपने पिता-पितामह से चले आये हुए राज्य का धर्मपूर्वक पालन करने लगे। उनके मन्यु नामक पुत्र हुआ। महाराज मन्यु के, जैसे शरीर में पाँच इन्द्रियाँ मुख्य होती हैं, वैसे ही पाँच पुत्र हुए। उनके नाम बृहत्क्षत्र, जय, महावीर्य, नर और गर्ग थे। इन पाँचों में से जो चौथे नर थे, उनके सकृति नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। सकृति के गुरु और रन्तिदेव—ये दो पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें महाराज रन्तिदेव परम धार्मिक और यशस्वी हुए। ये राजर्षि इतने धर्मात्मा थे कि इनका यश अब तक

तीनों लोकों मे व्याप्त है। इन्हें जो राज्य मिला था, उससे जो भी आय आती, उसे जो भी माँगता, उसी को ये दे देते। जब उनके बड़े भाई गुरु ने यह देखा कि यह तो राज्य के योग्य नहीं, यह निरन्तर दान करता रहता है, तब उन्होंने इनकी मासिक वृत्ति बाँध दी। नियत समय पर इन्हें उतना धन दे देते, जिससे इनका निर्वाह भली भाँति हो सके। किन्तु इन्हें तो ईश्वर पर भरोसा था। इनकी प्रतिज्ञा थी, कि बिना उद्योग किये, जो भी आ जाय, उसी पर निर्वाह करना। न किसी से याचना करना, न भोजन-जल जुटाने के लिये परिश्रम करना। दैवयोग से इन्हें अपने कठोर व्रत के कारण ही एक बार अड़तालीस दिन बिना अन्न जल के बिताने पड़े।

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी महाराज रन्तिदेव को अड़तालीस दिन बिना अन्न-जल के कैसे बिताने पड़े, कृपा करके इस कथा को आप हमें विस्तार से सुनायें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! मैं परम यशस्वी महाभाग्यवान महाराज रन्तिदेव का चरित सुनाता हूँ। आप सब दत्तचित्त होकर इस परम पुण्यप्रद पावन आख्यान को प्रेमपूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

दयो मरुद्गन लाइ भरत ने सुत निज जान्यो।
पायो मरुत्-प्रसाद वंश निज उज्ज्वल मान्यो॥
वितथ नाम तें ख्यात जगतमहँ भये भरतसुत।
रन्ति राज-परिवार भये वन नरपति तपहित॥
वन कुटुम्बसँग महँ, रहे करे तप रोकि मन।
लियो यदृच्छ प्राप्त सब, योग-मार्ग तें तज्यो तन॥

महाराज रन्तिदेव की कथा

(७७६)

रन्तिदेवस्य हि यश इहामुत्र च गीयते।
नियद्वित्तस्य ददतो लब्धं लब्धं बुभुक्षतः॥
निष्किञ्चनस्य धीरस्य सकुटुम्बस्य सीदतः।
व्यतीयुरष्टचत्वारिंशदहान्यपिवतः किल॥*
(श्री भा० ९ स्क० २१ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

भये वितथ के मन्यु पाँच सुत तिनके सुन्दर।
बृहत्क्षत्र, जय, गर्ग, भये नर महावीयवर॥
नरसुत सङ्कृति भयो तासु सुत द्वै जग भूषन।
प्रथम भयो गुरु रन्तिदेव दूसर निष्किञ्चन॥
बिनु पुरुषारथ दैववश, मिलहि अयाचित जो अशन।
दै अभ्यागत अतिथि कूँ, पावैं है सन्तुष्ट मन॥

सबमे भगवान् को देखना, सबमे भगवद्बुद्धि करना, प्रभु

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! महाराज रन्तिदेव का यश इस लोक तथा परलोक—दोनों स्थानों—में गाया जाता है। वे दैवाधीन प्राप्त धन से सन्तुष्ट रहने वाले, जो जो प्राप्त हो जाय, उसे देने वाले थे। एक बार उन निष्किञ्चन और धैर्यवान राजा को परिवार सहित दुःख उठाते हुए, भूखे-प्यासे रहते हुए अड़तालीस दिवस हो गये।'

प्राप्ति का यही एकमात्र उपाय है। भेद-भाव से भगवान् की प्राप्ति नहीं हो सकती। कहीं भी, किसी भी साधन मे, निष्ठा हो जाय, वहीं भगवान् प्रकट हो जायँगे। अर्चा-विग्रह मे, माता पिता मे, गुरु मे, जड़ मे, चैतन्य मे, पशु, पक्षी, वृक्ष, अतिथि, अभ्यागत मे—कहीं भी—मन एकाग्र हो जाय, चित्त की वृत्ति स्थिर हो जाय, दान मे- धर्म मे, पूजा मे, अतिथि-सेवा मे, प्राणायाम मे, योग में, ज्ञान मे तथा अन्यान्य विविध साधनो मे से किसी मे चित्त स्थिर हो जाय, तो उसी के द्वारा भगवान् मिल जायँगे। किन्तु उस साधन में दृढ़ रहे, विचलित न हो। अपनी सत्ता को पृथक् रख-कर परमार्थ-साधन को वृत्ति न बना ले, तो उसे उसी साधन द्वारा भगवत्-साक्षात्कार हो सकता है। महाराज रन्तिदेव ने शक्तिभर दीनों का दुःख दूर करने का व्रत ले रखा था। उसी व्रत के सहारे उन्हे भगवान् के दर्शन हुए और अपनी उज्ज्वल-धवल कीर्ति आदि को यहीं छोड़कर वे परमपद के अधिकारी हुए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महाराज रन्तिदेव का व्रत था कि जो भी उनके समीप माँगने आता, उसे ना नहीं करते थे। ऐसे ही इनके परिवार के लोग थे। इनके बडे भाई ने जब देखा कि इस प्रकार तो यह सम्पूर्ण राज्य को दे डालेगा, इसकी कुछ वृत्ति बाँध देनी चाहिये, तब उन्होंने राज्य पर अपना अधिकार कर लिया, वे इनके लिये कुछ नियमित द्रव्य देने लगे। इससे यह परम प्रसन्न हुए, झंझट से छूटे। जो वृत्ति मिलती, उसी से ये काम चलाते। बीच में ही किसी ने माँग लिया, तो दो चार दिन ये भूखे ही रह जाते फिर आया तो उससे पुनः निर्वाह कर लिया।

संसार मे, कुछ लोग, पुरुषार्थ को ही सर्वश्रेष्ठ समझते है। उनका कहना है—"सब कुछ पुरुषार्थ से ही प्राप्त होता है। दैव के अधीन रहना निर्वीर्य आलसियों का काम है। इसलिये भाग्य

की चिन्ता न करके निरन्तर पुरुपार्थ ही करते रहना चाहिये। पुरुपार्थ के सम्मुख भाग्य कुछ नहीं है। सोते हुए सिंह के मुख में हरिण स्वयं आकर नहीं घुस जाते। जब तक वह प्रयत्न न करे तब तक भाग्य कुछ भी नहीं।"

कुछ लोग कहते हैं—"प्रारब्ध और पुरुपार्थ—दोनो का ही महत्त्व है। जैसे उडने के लिये पक्षी के दोनों पंख आवश्यक है जैसे चलने के लिये रथ के दोनों पहिये चाहिये, जैसे सतति के लिये स्त्री-पुरुष दोनों का होना अनिवार्य है, उसी प्रकार प्रारब्ध और पुरुपार्थ—दोनों से ही काम चलता है। पुरुपार्थ न करे, तो प्रारब्ध कैसे बने? पूर्वजन्म के पुरुपार्थकृत कर्म ही तो आगे के जन्मो मे प्रारब्ध को बनाते हैं। इसलिये निरन्तर पुरुपार्थ करते रहना चाहिये, किन्तु उसके फल को दैवाधीन समझकर प्रारब्ध के ऊपर छोड देना चाहिये, अर्थात् कर्म करने मे तो हमारा अधिकार है, किन्तु उसकी फल-प्राप्ति मे हमारा अधिकार नहीं।"

कुछ लोग भाग्य को ही सब कुछ समझते हैं। वे कहते है—"जो हमारे भाग्य मे होगा, हम कहीं भी रहे, वह अवश्य हमे प्राप्त हो जायगा। जो सुख-दुःख के भोग हमें मिलने वाले हैं, वे अवश्य मिलेंगे। विधाता ने जो इस जन्म के सुख, दुःख, वय तथा भोग हमारे भाग्य मे लिखे हैं, वे हमे, जहाँ भी रहें, वहीं प्राप्त हो जायँगे। जितना धन हमारे भाग्य मे लिखा है, उतना हमें बालू मे भी बैठे रहने पर प्राप्त हो जायगा। जो हमारे भाग्य में है ही नहीं, वह चाहे सुवर्ण के पर्वत पर जा बैठें, तो भी हमे नहीं मिलेगा। ससार में अन्न के दाने-दाने पर, जल की बूँद बूद पर, वस्त्र के टुकडे-टुकडे पर प्रत्येक का नाम लिखा है। जिस पर जिसका नाम लिखा है, वह जहाँ भी रहे, वहीं उसे प्राप्त होगा। जिस पर तुम्हारा नाम नहीं है, कितना भी प्रयत्न करो, तुम्हे मिल

ही नहीं सकता। आमों के पेड़ों को कौन लगाता है, कौन पानी देकर बड़ा करता है, कौन फलों को तोड़ता है, कौन टोकरों में भरकर बेचता है! कितने आदमी "मेरे आम, मेरे आम" की रट लगाते हैं, किन्तु उन्हें खाता वही है, जिसका उन पर नाम लिखा है। एक सेठ है, जिसके बाग में लाखों आम फले हैं। वैद्यों ने आम खाने को मना कर रखा है, वह एक भी आम नहीं खा सकता। इसके विपरीत उन पर जिनका नाम लिखा है, वे परदेशी भी आकर खा जाते हैं। थाल परसा हुआ सम्मुख रखा है, भाग्य में वह भोजन नहीं होगा, तो कुत्ता बिल्ली आकर उसे उच्छिष्ट कर देंगी, उसी समय कोई अत्यावश्यक कार्य भी आ जायगा, किसी से लड़ाई-झगड़े होंगे, क्रोध में आकर वह परसी हुई थाली छोड़, उठ जायगा। इसलिये पुरुषार्थ व्यर्थ है, बच्चों के बहलाने की बात है, मुख्य तो है भाग्य। भाग्यवश जो सम्मुख आ जाय, उसे प्रभु का प्रसाद समझकर प्रेम से पा लो। कुछ न आवे, तो यही समझो, आज प्रभु की यही इच्छा है।"

इस विचार के लोग इतना तो पुरुषार्थ करते हैं कि जो आ जाय, उसे उठाकर खा लेते हैं, जो भूखा प्यासा आ जाय, उसे उठाकर दे देते हैं। इसके अतिरिक्त वे भोग्य-सामग्रियों को जुटाने के लिये कोई पुरुषार्थ नहीं करते। अनुक्षण अच्युत की अनुकम्पा की प्रतीक्षा करते रहते हैं। महाराज रन्तिदेव ऐसे ही विचारों के व्यक्ति थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वे मरुभूमि में ही निवास करते थे, जहाँ अन्न की भाँति जल भी पुरुषार्थ से ही प्राप्त होता है।

जो लोग निष्ठावान होते हैं, उनकी निष्ठा डिगाने के लिये खल पुरुष अकारण ही प्रयत्न किया करते हैं। कोई सत्यवादी हो, तो उससे झूठ बुलाने की, कोई ब्रह्मचर्य व्रत धारण किये हुए हो,

तो उससे च्युत करने की, कोई अनुष्ठान कर रहा हो, तो उसे उससे हटाने की चेष्टा कुछ लोग अपने मनोविनोद के ही लिये करते हैं और उसे अपनी निष्ठा से च्युत होते देखकर उन लोगों को एक आत्मसंतोष-सा होता है। महाराज रन्तिदेव के गुणों को तो अन्य लोग पा नहीं सकते थे। उनसे वैसे ही द्वेष करने वाले लोग, उन्हें उनके निश्चय से डिगाने के लिये अनेकों प्रयत्न करते।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जिन्होंने अपना सर्वस्व भगवान् के अर्पण कर दिया है, उन्हे भी दुष्ट लोग दुःख क्यों देते हैं? भगवान् उनकी रक्षा क्यों नहीं करते?"

सूतजी ने हँसकर कहा—"महाराज! भगवान् ही तो ये सब लीलायें कराते हैं। भगवान् की इच्छा के बिना तो एक पत्ता भी नहीं हिलता। जैसे सुवर्णकार सुवर्ण को बार बार अग्नि में तपाकर उज्ज्वल करता है, उसी प्रकार भगवान् भक्तों को दुःखरूपी अग्नि में तपाकर उन्हें उज्ज्वल बनाते हैं, उनके महत्त्व को संसार में प्रकट करते हैं। भीष्म जैसे भगवद्भक्त को महीनों शर शय्या पर शयन करना पड़ा। पैर में एक काँटा गड़ जाता है, तो लोग दुःख से तिलमिला उठते हैं, उनके तो रोम रोम में तिल तिल स्थान में बाण बिंधे हुए थे। उन्हें कितना कष्ट होता रहा होगा? तिस पर भी भगवान् उनके समीप पाडवों को ले गये और बोले—"युधिष्ठिर के सब प्रश्नों का उत्तर दीजिये।"

पितामह ने पूछा—"हे प्रभो! आप सर्वज्ञ हैं, सर्वजित् हैं, सर्वसमर्थ और सर्वेश्वर हैं, धर्मराज युधिष्ठिर को आप ही उपदेश क्यों नहीं देते?"

भगवान् ने कहा—"मुझे उपदेश देने में न कुछ आपत्ति है, न श्रम। सम्पूर्ण वेद ही मेरी निःश्वास हैं। किन्तु मुझे तो संसार में तुम्हारा महत्त्व बढ़ाना है, जगत् में तुम्हारी ख्याति करनी है,

त्रिलोक मे तुम्हारी कीर्ति का विस्तार करना है ।" यह कहकर उन्होंने भीष्मपितामह से ही उपदेश कराया, जो ज्ञान महाभारत में शांतिपर्व के नाम से प्रसिद्ध है, जो सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है । उद्धवजी को उपदेश देते हुए स्वयं भगवान् ने भी उसका उद्धरण दिया है और स्पष्ट कहा है–"यह ज्ञान मैंने देवव्रत भीष्म पितामह से प्राप्त किया है ।" सो, मुनियो ! भगवान् भक्तो को जो कष्ट देते हैं, वह उनके हित के ही लिये । जिसे वे ग्रहण करना चाहते हैं, प्रथम उसका सर्वस्व हर लेते हैं, फिर उसे योग्य अधिकारी बनाकर अपना सर्व उसे दे देते हैं । भगवान् भक्तों के अधीन हो जाते हैं, अपने आपको उनके हाथों बेंच देते हैं ।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! अब आप महाराज रन्तिदेव का अग्रिम चरित सुनावें ।"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज ! सुनिये ! उसी की भूमिका तो मैं बाँध रहा हूँ । इनके बड़े भाई बहुत कहते थे, तुम्हें जो मिलता है, उससे महीने भर काम चलाया करो । वह कम पड़ता हो, तो और बढ़ा दें । तुम्हें तो जब कुछ मिलता है, तभी उसे व्यय कर देते हो, जो माँगता है, उसे ही दे देते हो । तुम्हारे पीछे ये परिवार वाले भी दुःख उठा रहे हैं । इन्हें पीड़ा पहुँचाना उचित नहीं ।"

महाराज रन्तिदेव कह देते—"सबका अपना-अपना प्रारब्ध है । जो जिनके भाग्य का होता है, वह उन्हें मिल जाता है । मेरे भाग्य का मैं, और जिस-जिसके भाग्य का जो होता है वह उसे ले जाता है इसमें मैं देने-लेने वाला कौन हूँ ।" यह सुनकर इनके बड़े भाई गुरु चुप हो जाते । ये जितना भी दे दें, उतना ही ये व्यय कर दें ।

एक बार इन्हें एक मास के लिये जो मिला, सब किसी एक

को ही दे डाला। दूसरे मास जानकर या अनजान मे, महाराज गुरु ने धन नहीं भेजा, इसलिये ये अडतालीस दिन बिना अन्न-जल के ही रह गये। महाराज इस दुख से तनिक भी विचलित नही हुए। ये इसमे भी भगवान् का अनुग्रह ही समझते थे।

अडतालीस दिनो के पश्चात् उनचासवें दिन किसी ने बडी श्रद्धा से इन्हे बडी सुन्दर खीर, जिसमे मेवा, मिश्री, केशर तथा घृत पडा था, लाकर दी। साथ में हलुआ, पूडी तथा दूसरे पकवान भी थे। उसने घडा भरकर जल भी लाकर दिया। राजा ने समझा, यह भगवान् की परम अनुकम्पा है। बडे धैर्य के साथ भगवान् को अर्पण करके अपने परिवार वालो को सब वस्तुएँ बाँटीं। अपना भी भाग लगाकर ज्योंही आचमन करके वे प्रसाद पाने को उद्यत हुए, त्योंही भोजन के समय एक ब्राह्मण अतिथि उनके द्वार पर आकर उपस्थित हुआ। अतिथि को बिना खिलाये धर्मात्मा राजा प्रसाद कैसे पा सकते थे? अतः उन्होंने ब्राह्मण को प्रसाद पाने के लिये आमन्त्रित किया। ब्राह्मण तो आये ही इसीलिये थे। हाथ-पैर धोकर आ डटे चौके मे। राजा तो सब मे सर्वत्र उन सर्वान्तर्यामी प्रभु को ही विराजमान देखते थे। अत्यन्त श्रद्धा से आदरपूर्वक उस अन्न मे से कुछ भाग ब्राह्मण को पहले खिलाया। खा-पीकर और राजा को आशीर्वाद देकर ब्राह्मण देवता चलते बने। 'अतिथि थार किसके? भात खाये खिसके।'

ब्राह्मण के चले जाने के अनतर वे ज्योंही पुनः प्रसाद पाने बैठे त्योंही एक शूद्र वहाँ आ गया और राजा से बोला—"राजन्! मैं भूखा हूँ, आप मुझे कुछ अन्न दे दें, तो मेरे प्राण बच जायँ।"

राजा तो सब में भगवान् को देखते थे। अतः उन्होंने बडे आदर के सहित उस शूद्र को भी पेट भर भोजन कराया, जल पिलाया। शूद्र खा-पीकर राजा की प्रशसा करते चला गया।

अब बचे हुए अन्न का यथायोग्य विभाग वितरण कर राजा ज्योंही परिवार सहित खाने बैठे, त्योंही एक अवधूत बहुत से कुत्तों का साथ लिये हुए दीन वाणी मे बोला—"राजन्, मैं बहुत भूखा हूँ मेरे कुत्तों सहित मुझे भी कुछ खाने को दीजिये।"

राजा तो तत्त्व ज्ञानी थे। वे कुत्तों मे, विद्वान में, ब्राह्मण मे चाडाल मे—सर्वत्र अपने स्वामी श्रीहरि को ही देखते थे। अत उन्होंने अवधूत को प्रणाम किया और उसके कुत्तों को भी भगवद् बुद्धि से प्रणाम किया, सब को भोजन कराया, पानी पिलाया और आदर-सहित विदा किया।

अब राजा के पास केवल जल शेष रह गया। वह जल भी उतना ही, जितने से एक आदमी तृप्त हो सके। राजा उस जल को ही बाँट कर पोने लगे, इतने में ही एक अत्यन्त प्यासा चाडाल दौडता हुआ आया और अत्यन्त कातर वाणी में बोला—"राजन्! मैं अत्यन्त प्यासा हूँ, यदि मुझे अब भी जल नहीं मिला, तो मैं निश्चय ही तडप-तडपकर मर जाऊँगा। जल मुझे पिला दीजिये।"

इतना सुनते ही महाराज जल पीने से रुक गये। अडतालीस दिनो से उन्होंने जल भी पान नहीं किया था, किन्तु चाडाल की कातर वाणी सुनकर वे अपना तथा भूख प्यास से तडपते अपने परिवार का दुख भूलकर कहने लगे—'मैं भगवान् से कोई अष्ट ऐश्वर्य युक्त परमगति नहीं चाहता और न मुझे मोक्ष की ही इच्छा है। मैं तो सम्पूर्ण देहधारियों के अन्त करणों मे स्थित होकर उनका दुख सहन करना चाहता हूँ। ससार के सभी प्राणियों के बदले अकेले मुझे ही दुख हो। शेष प्राणियों के दुख दूर हो जायँ। अहो! यह चाडाल जाने की इच्छा रखने वाला है, जीवन चाहता है। इसका जीवन, इस जल के ही अधीन है, इस

जलरूप जीवन को देने से मेरी क्षुधा, पिपासा, श्रम, शरीर की शिथिलता, दीनता, ग्लानि, शोक, विषाद, मोह, आदि सभी वृत्तियाँ निवृत्त हो गई हे ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इतना कहकर उन्होंने वह जल भी हँसते हँसते उस चाडाल को दे दिया । चाडाल ने ज्यो ही जल पिया, आकाश से पुष्पों की वर्षा होने लगी । सभी महाराज रन्तिदेव की जय-जयकार करने लगे । क्षण भर मे ही वह चाडाल देवता के स्वरूप मे उनके सम्मुख खडा हो गया और बोला—"राजन् ! मैं साक्षात् धर्म हूँ । आप अपने धर्म पर, इस सकट में भी अविचल बने रहे, इससे मैं आप पर अत्यन्त ही प्रसन्न हूँ । आप जो चाहें, सो मुझसे वर माँग सकते हैं ।"

राजा ने हाथ जोडकर कहा—"हे धर्मदेव ! मेरा अहोभाग्य

जो आपके दर्शन हुए। मेरी बुद्धि सदा धर्म में अडिग बनी रहे में धर्म पथ से कभी च्युत न होऊँ, इसके अतिरिक्त मैं कुछ भी नहीं चाहता।"

राजा यह कह ही रहे थे कि गरुड की पीठ पर सवार होकर चतुर्भुज भगवान् विष्णु उनके सम्मुख उपस्थित हुए और बोले—"राजन्! ब्राह्मण वेष बनाकर मैं ही आपके समीप आया था। भूखे रहने पर भी आपने मेरे प्रति तो अश्रद्धा ही की और न ... का ही भाव प्रदर्शित किया। अत्यन्त भूख में भी जो आपने धैर्य नहीं छोड़ा, यही आपकी महत्ता है। आप पर मैं प्रसन्न हूँ। आप जो चाहें, मुझसे माँग लें। आपने अपने पुण्य प्रभाव से समस्त पुण्य लोकों को जीत लिया। आप जिन लोकों में चाहें जा सकते हैं।"

राजा पुण्य से प्राप्त इन लोकों का परिणाम जानते थे। उनमें सातिशय दोष और पतन का जो भय है, वे उसे भी जानते थे, अतः उन्होंने पुण्यमय लोकों में जाना स्वीकार नहीं किया। केवल यही कहा—"मुझे आपके चरण-कमलों की भक्ति प्राप्त हो।"

तदन्तर हंस पर चढ़कर कमण्डलु लिये वेद-गर्भ चतुर्मुख भगवान् ब्रह्मा उनके सम्मुख उपस्थित हुए और बोले—"राजन्! शूद्र रूप में मैं ही आपके सम्मुख आया था। आपने मेरे शूद्ररूप के प्रति वही आदर प्रदर्शित किया जो आपने एक अतिथि ब्राह्मण के प्रति किया। आपकी बुद्धि समत्व में स्थित है, आप मेरे लोक में चलें।"

राजा ने कहा—"हे चतुरानन! मुझे स्वर्गीय सुख नहीं चाहिये। मैं तो पृथ्वी में ही भगवत्-भाव देखना चाहता हूँ। मेरे मन में तनिक भी द्वैध भावनाएँ न हों, सर्वत्र श्रीहरि को ही देखूँ, ऐसा आशीर्वाद आप मुझे दें।"

राजा यह कह ही रहे थे कि वृषभ पर चढ़े, त्रिपुण्ड लगाये हाथ में त्रिशूल लिये, त्रिनेत्र भगवान् त्रिपुरारि वहाँ उपस्थित हुए। वे व्याघ्र का चर्म ओढ़े थे, डमरू हाथ में था, मस्तक पर चन्द्रमा चमक रहे थे, जटाओं में श्री गङ्गाजी विराजमान थीं। वे रुद्राक्ष की माला पहिने, सम्पूर्ण शरीर में चिता की भस्म लगाये, कपूर के समान अपनी द्युति से दशों दिशाओं को प्रकाशित तथा सुवासित कर रहे थे। आते ही उन्होंने कहा—"राजन! कुत्तों सहित मैं ही अवधूत के वेश में तुम्हारे सम्मुख आया था। तुमने मुझमें तथा मेरे कुत्तों में कोई भेद भाव नहीं किया। इतने भूखे रहने पर भी कुत्तों सहित मेरी तृप्ति की। अब तुम जो चाहो, वह वर माँग लो। हम तुम्हारे धैर्य की परीक्षा के लिये वे रूप बनाकर आये थे। किन्तु, तुम अपने व्रत में दृढ़ रहे, अतः जो भी चाहो वह मुझसे माँग लो।"

यह सुनकर राजा ने तीनों देवों को श्रद्धा-सहित साष्टाङ्ग प्रणाम किया और गद्‌गद वाणी से कहने लगे—हे त्रैलोक्य वन्दित देवो! मेरा अहोभाग्य, जो आप तीनों के दर्शन हुए। ससारी पुरुषों को आपके दर्शन ही दुर्लभ हैं। आपके दर्शन से ही मैंने सब कुछ प्राप्त कर लिया। आपके दर्शनों के अनन्तर भी यदि मैं वही ससारी भोग चाहूँ, तो यह तो कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर धान की भूसी माँगने के सदृश है। विषय भोग तो नरक में भी प्राप्त हो सकते हैं, फिर उन्हें मैं आपसे क्या माँगूँ? आप यदि प्रसन्न हैं, तो फिर मुझे आशीर्वाद दें कि आनन्द कन्द व्रजचन्द्र श्री नन्दनन्दन भगवान् वासुदेव के चरणारविन्दों में मेरी अविचल अहेतुकी भक्ति हो। ब्रह्मलोक पर्यन्त के भोगों में मेरी स्पृहा न हो। मेरा मन सदा श्रीहरि के चरणारविन्दों में ही लगा रहे।"

महाराज रन्तिदेव की ऐसी अविचल सुदृढ निष्ठा देखकर

धर्मसहित तीनों देव परम प्रमुदित हुए। उन्होंने राजा को अविचल भक्ति का आशीर्वाद दिया और राजा के देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अत्यन्त प्रलोभन देने पर भी महाराज ने ईश्वर-भक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य फल की इच्छा नहीं की। उनका चित्त निरन्तर अनन्य भाव से उन अच्युत में ही लगा रहता था। वे सर्वत्र सब स्थानों में, सब कालों में, समस्त प्राणियों में अपने इष्ट श्रीहरि को ही निहारते थे। उनका भेद-भाव छूट गया था। वे त्रिगुणातीत होकर जीवन्मुक्त बन गये थे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! उनके परिवार तथा साथ के अन्य लोगों का क्या हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज! साँभर की झील में जो भी पदार्थ जाता है, वही साँभर हो जाता है। चन्दन के वन के समीप रहने वाले अन्य कँटीले वृक्ष भी सुगन्धित बन जाते हैं। इसी प्रकार महाराज रन्तिदेव के संसर्ग में जितने लोग थे, वे सब उनकी सङ्गति के प्रभाव से योगी तथा नारायण परायण भगवत्-भक्त हो गये। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में मन्यु के प्रपौत्र नर के पौत्र महाराज रन्तिदेव की कथा कही। अब नर के अतिरिक्त जो महाराज मन्यु के बृहत्क्षत्र, जय, महावीर्य और गर्ग-ये चार पुत्र थे, उनके वंश का विस्तार आप सुनें।"

छप्पय—*रन्तिदेव के सरिस कौन नर जग महँ दानी।*
अतिथि-हेतु निज-क्षुधा-पिपासा जिन नहिँ जानी॥
भये दिवस चालीस आठ बिनु पीये खाये।
उनचासवें दिवस स्वाद-युत व्यञ्जन आये॥
जेमन बैठे कुटुम-सँग, विप्र वृषल चाण्डाल बनि।
याच्या हरि हर अज करि, नृपति अन्न-जल दयो सुनि॥

महाराज वृहत्क्षत्र के वंश का वर्णन

[७७७]

वृहत्क्षत्रस्य पुत्रोऽभूद्धस्ती यद्धस्तिनापुरम् ।
अजमीढो द्विमीढश्च पुरुमीढश्च हस्तिनः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० २१ अ० २० २१ श्लोक)

छप्पय

हरषे तीनों देव दैंन दुरलभ वर लागे।
हरि-चरननि अनुराग त्यागि जग-सुख नहिं माँगे ॥
माया भई विलीन प्रेम प्रभु हिय महँ छायो।
नृप-अनुयायी सबनि सहज ही पर पद पायो ॥
ज्येष्ठ-श्रेष्ठ सुत मन्यु के, वृहत्क्षत्र भूपति भये।
रच्यो हस्तिनापुर जिननि, हस्ति अमर सुत है गये ॥

योगी अपनी योग शक्ति से एक से अनेक रूप रख सकता है, अनेक रूपों से अनेक कार्य कर सकता है। वह नवीन सृष्टि रच सकता है, जड को चेतन कर सकता है। तात्पर्य यह है कि उसके लिये कोई कार्य कठिन नहीं, कोई असम्भव नहीं, कोई विषय

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन ! महाराज मन्यु के सबसे बड़े पुत्र वृहत्क्षत्र के पुत्र हस्ती हुए, जिन्होंने हस्तिनापुर नामक नगर बसाया। उन महाराज हस्ती के अजमीढ, द्विमीढ और पुरुमीढ ये तीन पुत्र हुए।"

अज्ञेय नहीं। वह तो सर्वसमर्थ है। उसकी चेष्टा लोकग्राह्य होती है। अतः इसमे आश्चर्य प्रकट न करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मैं दुष्यन्त-पुत्र भरत के वश का वर्णन कर रहा था, जिनके नाम से यह वश, भरतवश के नाम से, विख्यात हुआ। मैं बता ही चुका हूँ, महाराज भरत के पुत्र वितथ हुए। वितथ के मन्यु हुए। मन्यु के बृहत्क्षत्र, जय, महावीर, नर और गर्ग—ये पाँच पुत्र थे। इनमें से नर के वश का महाराज रन्तिदेव तक, मैंने वर्णन किया। अब शेष चारों के भी वश को श्रवण करें। पहले मैं सक्षेप में शेष तीन छोटों का वश बताकर अन्त में सबसे बडे राजर्षि बृहत्क्षत्र के वश का वर्णन करूँगा।

महाराज मन्यु के पाँचवें पुत्र गर्ग के सुत शिनि हुए। शिनि से गार्ग्य का जन्म हुआ। यद्यपि गार्ग्य क्षत्रिय पुत्र थे, किन्तु इनकी सन्तति फिर ब्राह्मण हो गयी। पीछे यह ब्रह्म कुल हो गया।

अब मन्यु के तीसरे पुत्र महावीर्य के वश को सुनिये। महावीर्य का सुत दुरितक्षय हुआ। उससे त्रय्यारुणि, कवि और पुष्करारुणि—ये तीन पुत्र हुए। ये भी तीनों ब्राह्मण-गति को प्राप्त हुए, अर्थात् इनका वश भी कर्मणा ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो गया। द्वितीय पुत्र जय का वश सम्भवतया चला नहीं।

महाराज मन्यु के सबसे बड़े पुत्र बृहत्क्षत्र के पुत्र हस्ती हुए, जिन्होंने हस्तिनापुर को बसाया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! हस्तिनापुर तो पहले से ही था। हस्ती ने उसे क्या बसाया ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! पहले से क्या नहीं है ? ससार में नयी वस्तु है ही क्या ? केवल नाम रूप कुछ कभी-कभी परिवर्तित हो जाया करते हैं, भूमि तो सदा से है। मधु-कैटभ के मेदे से सनने से इसका नाम मेदिनी हो गया। यह कश्यपजी के उरु

में रहने से उर्वी, महाराज पृथु के द्वारा दोहन करने से पृथ्वी और वसु (धन) रहने से 'वसुमती' के नाम से विख्यात हो गयी। इसी प्रकार नगर तथा सड़कों की बात है। आज किसी नगर का नाम कुछ है, कल कोई दूसरा प्रभावशाली हो गया, तो उसी के नाम से वह प्रसिद्ध हो गया। आज किसी शासक का शासन है, उसके अधिकारियों या उसके नाम से कोई सड़क है, कल दूसरा अधिकारी आया, वह उसके नाम से हो गयी। यह संसार-चक्र ऐसे ही चलता है। वह नगर तो पहले ही से था, हस्ती के नाम फिर हस्तिनापुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

हाँ, तो हस्ती के तीन पुत्र हुए—अजमीढ़, द्विमीढ़ और पुरुमीढ़। अजमीढ़ के वंशज प्रियमेधादि ब्राह्मणगण हुए। महाराज अजमीढ के द्वितीय पुत्र वृहदिपु हुए। वृहदिपु के पुत्र वृहद्धनु हुए। वृहद्धनु के पुत्र का नाम वृहद्काय हुआ। उनसे जयद्रथ, जयद्रथ के पुत्र विशद, विशद के सेनजित नामक यशस्वी पुत्र हुए। सेनजित के रूचिराश्व, दृढ़हनु, काश्य और वत्स—ये चार पुत्र हुए।

रुचिराश्व के पुत्र पाट हुए। पाट के दो पुत्र थे—एक का नाम पृथुसेन और दूसरे का नाम नीप था। नीप के सौ पुत्र हुए। नीप ने ही श्री शुकदेवजी की कन्या कृत्वी में ब्रह्मदत्त को उत्पन्न किया, जो सुप्रसिद्ध योगीश्वर थे।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! व्यास-पुत्र भगवान् शुकदेव तो जन्म से ही परमहंस थे। उन्होंने विवाह की कौन कहे, अपना यज्ञोपवीत-संस्कार भी नहीं कराया था, फिर उनके पुत्री कैसे हुई?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! योगियों के लिये कुछ भी न असम्भव है, न आश्चर्य है। सभी

योगियों की ही तो संतान हैं, वे जगत् पिता हैं। यह सत्य है, मेरे गुरुदेव ने विवाह नहीं किया, किन्तु मेरे गुरु ने अपने ही समान एक छाया-शुक का निर्माण किया। उन्होंने ही विवाह किया। पुराणों मे जो शुकदेवजी के वश का वर्णन आता है, वह इन्हीं छाया शुक का है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! छाया शुक की रचना शुकदेवजी ने कब की ?"

सूतजी बोले—"महाराज! जब शुकदेव विरक्त होकर माता पिता का परित्याग करके वन जाने लगे, तब इनके पीछे पुत्र वियोग से दुःखी भगवान् व्यास "हा पुत्र! हा पुत्र!" कहकर उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। श्रीशुक ने सभी प्राणियों में व्याप्त होकर 'भो' ऐसा शब्द कहा। फिर भी व्यासजी विरहाकुल ही बने रहे। तब सर्वसमर्थ महायोगीश्वर मेरे गुरुदेव ने अपने ही समान एक छाया शुक की रचना करके उसे वहीं छोड़ दिया और आप आगे चले गये। व्यास तो पुत्र-शोक में विमूर्च्छित से बने ही हुए थे। छाया शुक को पाकर उन्हें परम प्रसन्नता हुई, वे उसे लेकर घर आये और उसका विधिवत् विवाह किया। उसी से कृत्वी नाम्नी कन्या उत्पन्न की, जो नीप की पत्नी हुई, जिसने योगीश्वर ब्रह्मदत्त को उत्पन्न किया। ये ब्रह्मदत्त आत्म विद्या विशारद थे। इनकी स्त्री का नाम सरस्वती था। उसके गर्भ से इन्होंने विष्वक्सेन नाम का पुत्र उत्पन्न किया। ये भी महा योगीश्वर थे। इन्होंने महर्षि जैगीषव्य के उपदेश से योगशास्त्र की रचना की। योगाचार्यों में विष्वक्सेन की भी गणना है।

विष्वक्सेन के पुत्र उदक्स्वन हुए और उनसे भल्लाद नामक पुत्र उत्पन्न हुए। ये मन मैंने हस्ती के पुत्र अजमीढ के वंश का संक्षेप में वर्णन किया।

हस्ती के दूसरे पुत्र द्विमीढ के पुत्र यवनीर हुए। यवनीर के कृतिमान, उनके सत्यधृति, सत्यधृति के दृढनेमि, उनके सुपार्श्व पुत्र हुए। सुपार्श्व के सुमति, सुमति के सन्नतिमान्, उनके कृती। कृती ने हिरण्यनाभ से योग विद्या प्राप्त की। इससे इन्होने प्राच्य सामऋचाओं की छः संहिताएँ कही थीं। इनके पुत्र नीप हुए। नीप के उग्रायुध, उनसे क्षेम्य, क्षेम्य से सुवीर, उनके रिपुञ्जय, रिपुञ्जय के पुत्र बहुरथ हुए। यह अत्यन्त संक्षेप में द्विमीढ के वंश का वर्णन हुआ। इस प्रकार हस्ति के अजमीढ, द्विमीढ और पुरुमीढ—इन तीन पुत्रों में से दो के वंश तो हो गये। तीसरे पुरुमीढ के कोई सन्तान ही नहीं हुई। इसलिये उनका वंश चला ही नहीं।

सबसे बड़े अजमीढ के कई रानियाँ थीं। एक रानी के वंशज ब्राह्मण हो गये। दूसरे के वंश का पीछे वर्णन कर ही चुके है। हैं। तीसरी एक नलिनी नाम की रानी थी, जिससे नील का जन्म हुआ। नील के पुत्र शान्ति, शान्ति के सुशान्ति, उनसे पुरुज, पुरुज के अर्क, अर्क से भर्म्याश्व और भर्म्याश्व से मुद्गल आदि पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। उन पाँचों पुत्रों के नाम मुद्गल, यवनार, वृहदिषु, काम्पिल्य और संजय थे।

भर्म्याश्व के ये पाँचों पुत्र पाँच देशों के सम्मिलित राजा हुए। पिता ने कहा—मेरे पाँचों पुत्र पाँचों देशों का शासन करने में अलम् हैं, इसीलिये उन पाँचों देशों का नाम पाञ्चाल देश हुआ। चतुर्थ पुत्र काम्पिल्य ने अपने नाम से काम्पिल्य नगरी गङ्गातट पर बसाई। एटा जिले में गङ्गा किनारे अभी तक काम्पिल्य नाम से नगर है। वही पूर्व काल में पांचाल देश की राजधानी थी। अलीगढ के पास जो कोल है, वहाँ दक्षिण पांचाल देश की राजधानी थी। राजा के सबसे बड़े पुत्र मुद्गल से मौद्गल्य नाम के

ब्राह्मण-गोत्र की प्रवृत्ति हुई। मोद्गल्यगोत्रीय ब्राह्मण शिखा नहीं रखाते, इस सम्बन्ध में एक इतिहास है।

भर्म्याश्व पुत्र मुद्गल से दिवोदास नामक पुत्र और अहिल्या नाम की कन्या उत्पन्न हुई। उनमें से अहिल्या का विवाह गौतम ऋषि के साथ हुआ, जिनसे शतानन्दजी का जन्म हुआ।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! पीछे तो आप कह आये हैं कि ब्रह्माजी ने सभी वस्तुओं से सौन्दर्य लेकर एक स्त्री का निर्माण किया, जिसमें हल्य न होने से उसका नाम अहल्या रखा पीछे गौतमजी की परीक्षा लेने को ब्रह्माजी ने धरोहर के रूप में उसे उनके पास रखा था। पीछे उनके सत्य, संयम और सदाचार से सन्तुष्ट होकर ब्रह्माजी ने उसका विवाह मुनि के साथ कर दिया। अब उसे मुद्गल की पुत्री बता रहे हैं। यह क्या बात है?"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज! यह सृष्टि तो अनादि है। किसी कल्प में अहिल्याजी ब्रह्माजी ने भी बनाई होगी, किसी कल्प में वे मुद्गल की भी पुत्री बनकर प्रकट हुई होंगी। इस सम्बन्ध में शंका न करनी चाहिये।

हाँ, तो शतानन्दजी के पुत्र सत्यधृति हुए। ब्राह्मण होने पर भी वे धनुर्विद्या में पारंगत थे। उनके पुत्र शरद्वान हुए, जिनके पुत्र कृप और कृपी थे।"

शौनकजी ने पूछा—'सूतजी! कृप और कृपी की उत्पत्ति कैसे हुई, कृपा करके इस प्रसंग को हमें सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! अब मैं आपको कृपाचार्य और कृपी के सम्बन्ध की कथा सुनाता हूँ, आप सावधान होकर उसे श्रवण करें।"

छप्पय

हस्ती-सुत अजमीढ़ नील-सुत शान्ति भयो तिनि।
उनके पुत्र सुशान्ति पुरुज सुत अर्क लहे जिनि॥
अर्क-पौत्र भर्म्याश्व पुत्र मुद्गल द्विज तिनि की।
भई अहिल्या सुता नारि मुनिवर गौतम की॥
शतानन्द तिनि तें भये, पुत्र सत्यधृति तासु के।
शरद्वान् सुत धनुविद, कृपाचार्य सुत जासु के॥

कृप-कृपी की कथा

[७७८]

शरद्वांस्तत्सुतो यस्मादुर्वशीदर्शनात् किल ।
शरस्तम्बेऽपतद् रेतो मिथुनं तदभूच्छुभम् ॥
तद् दृष्ट्वा कृपयागृह्णाच्छन्तनुर्मृगयां चरन् ।
कृपः कुमारः कन्या च द्रोणपत्न्यभवत् कृपी ॥*

(श्री भा० ६ स्क० २१ अ० ३५ ३६ श्लो०)

छप्पय

लखी उर्वशी शरद्वान् चित्त चञ्चलता अति ।
भई कामवश वृत्ति, तुरत सतधृति सुत की मति ॥
तन तो रोक्यो किन्तु रुक्यो नहिँ रेत गिर्‌यो जहँ ।
कुशा झाड के मध्य भये सुत-सुता प्रकट तहँ ॥
लाये शन्तनु कृपावश, दोउनि को पालन कर्‌यो ।
जानि विप्र सन्तान शुभ, नाम कृपी कृप नृप धर्‌यो ॥

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! गौतम पुत्र शतानन्द के पौत्र शरद्वान् हुए। एक बार उर्वशी के दर्शन से उनका वीर्य कुशा के गुच्छे पर पड़ा। उससे अति शुभ लक्षण युक्त जुड़ले लड़की लड़के हुए। मृगया के निमित्त गये हुए राजा शान्तनु ने उन्हे देखा। वे कृपा के वशीभूत होकर उन्हें उठा लाये। लड़के का नाम कृपाचार्य हुआ और लड़की द्रोणाचार्य की पत्नी कृपी हुई।"

कृपा करना श्रेष्ठ पुरुषों का कार्य है। जो दूसरों पर कृपा नहीं करते, अपने ही शरीर को सदा पालते-पोसते रहते हैं, वे अधम पुरुष मरकर दूसरे लोकों में अपने शरीर को खाते हैं। संसार का ऐसा ही नियम है—जो जैसा करेगा वैसा भरेगा। जो प्राणियों पर कृपा करते हैं, दूसरों को दुःखी देखकर उनके दुःखों को दूर करने की चेष्टा करते है, यथाशक्ति उनकी सेवा सुश्रूषा करते हैं, वे संसार में पुत्र-पौत्र तथा ऐश्वर्यशाली होकर अन्त में धर्मोपार्जित पुण्यलोकों में जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने कृप और कृपी की उत्पत्ति की कथा मुझसे पूछी है। उसे मैं आपसे कहता हूँ। गौतम-गोत्रीय महामुनि शरद्वान् अपने पिता सत्यधृति के ही समान धनुर्विद्या में पारङ्गत थे। उन्हें उतना प्रेम वेद-वेदाङ्गों में नहीं था, जितना कि धनुर्विद्या में। वे शरकन्डे के शर बनाकर निरन्तर बाण-विद्या का अभ्यास करते रहते थे। वे नैष्ठिक ब्रह्म चारी थे। अरण्य में रहकर वे लक्ष्य भेद का अभ्यास किया करते। अन्य विद्यार्थी, जैसे ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके वेदाध्ययन करते थे, वैसे ही ये समस्त इन्द्रियों का संयम करके अस्त्र-शस्त्र विद्या सीखा करते थे। कुछ दिनों में ये धनुर्वेद में पारङ्गत हो गये। देवताओं ने उनके तप में अन्तराय उपस्थित किया। जो लोग शुभ कार्य करते हैं, देवताओं की ओर से उनके धैर्य की परीक्षा के निमित्त प्रायः बहुत से विघ्न हुआ करते हैं। जो उन विघ्नों की ओर ध्यान न देकर निरन्तर अपने कर्तव्य में लगे रहते हैं, अन्त में उन्हें सिद्धि प्राप्त होती है।

देवेन्द्र ने महामुनि शरद्वान् के व्रत को भङ्ग करने के निमित्त उर्वशी नामक अप्सरा को भेजा। मुनि घोर वन में एकाग्र चित्त से बाण विद्या का अभ्यास कर रहे थे। वहीं समीप, आकर उर्वशी

काम-चेष्टायें करने लगी। वह अपने हाव-भाव तथा कटाक्षों द्वारा मुनि को मोहने का प्रयत्न करने लगी। कभी तो वह कन्दुक क्रीड़ा करते-करते मुनि के समीप आ जाती, कभी सुन्दर सङ्गीत गाकर मुनि के चित्त को आकर्षित करती, कभी अपने गुह्य अङ्गों को असावधानी के कारण विवस्त्र कर देती। युवक मुनि का ध्यान इस सुर ललना की ओर स्वतः ही आकर्षित हुआ। वे उसके रूप, यौवन, सौन्दर्य तथा माधुर्य को देखकर मन ही मन मुग्ध हो गये। उनका चित्त चञ्चल हो गया। कर काँपने लगे। हाथ से धनुष बाण छूट गये। वे अपने आप को भूल गये। उनका मन उस स्वर्गीया वार-वनिता के रूप जाल में फँस गया। फिर भी उन्होंने धैर्य धारण किया। शरीर को वहीं अडिग बनाये रहे। वे अपने स्थान से विचलित नहीं हुए। शरीर को रोकने में में तो मुनि समर्थ हुए, किन्तु शुक्र को न रोक सके। उनका रेत स्खलित हो गया। मुनि समझ गये, मेरा अमोघ वीर्य स्थान से च्युत हो गया है। अतः वे वहीं अपना मृगचर्म, दण्ड आदि छोड़ कर तुरन्त दूसरे स्थान में चले गये। उनका रेत एक कुश के फैले हुए झाड़ पर गिर गया। संयोगवश उसके दो भाग हो गये। मुनि का अमोघ वीर्य व्यर्थ तो कभी जा नहीं सकता, जहाँ भी पड़ेगा, वहीं फलवान् होगा। अतः तुरन्त वहाँ दो बच्चे हो गये। उनमें एक बालक था, दूसरी बालिका।

उन दिनों हस्तिनापुर में भीष्म पितामह के पिता महाराज शान्तनु राज्य करते थे। वे संयोगवश उसी वन में मृगया के निमित्त आये थे। उनके किसी सेवक ने उन सुन्दर शुभ लक्षण वाले बालकों को रोते देखा। दण्ड कमण्डलु, मृगचर्म, कुश का ब्रह्मदण्ड, आदि देखकर सेवक समझ गया कि ये किसी ब्राह्मण की सन्तानें हैं। उसने दोनों को उठाकर महाराज को दे दिया।

महाराज ऐसे सुकुमार उन कुमारों को पाकर परम प्रमुदित हुए। उन्होंने अपने सगे पुत्रों की भाँति उनका पालन-पोषण किया, उनके ब्राह्मणोचित समस्त संस्कार कराये। राजा ने कृपा वश उनका पालन-पोषण किया, अतः कुमार का नाम कृप रखा और कुमारी का नाम कृपी। शनैः-शनैः वे राजा के महलों में सुखपूर्वक बढ़ने लगे।

इधर शरद्वान् के चले जाने के अनन्तर वह अप्सरा कृत-कार्य होकर स्वर्ग चली गई। मुनि ने गङ्गा-स्नान किया, वेद माता गायत्री का जप किया, जल में डूबकर अघमर्पण मन्त्र का उच्चारण किया। वे पुनः अपने आश्रम में आकर धनुर्वेद का अभ्यास करने लगे। तप प्रभाव से उन्होंने कृप और कृपी के जन्म की बात जान ली। वे राजा शान्तनु के समीप आये, अपना पूरा परिचय दिया और पुत्र तथा पुत्री को प्यार किया। यह नहीं, उन्हें धनुर्वेद की जितनी विद्या आती थी, वही सब अपने पुत्र कृप को सिखा दी। जब मुनि कृप धनुर्विद्या में पारङ्गत हो गये, तब ये आगे चलकर कौरव-पांडवों के धनुर्वेद-शिक्षा के आचार्य नियुक्त हुए। इसीलिये ये कृपाचार्य के नाम से विख्यात हुए।

कृपी विवाह योग्य हो गई थी। महाराज शान्तनु को उसके विवाह की चिन्ता थी। वे चाहते थे, कृपी के अनुरूप ही कोई तेजस्वी, यशस्वी मुनि-पुत्र मिले, तो उसके साथ में इसका विवाह कर दूँ। उन्हीं दिनों भरद्वाज मुनि गङ्गा-द्वार के समीप घोर तपस्या करते थे। दैवयोग से घृताची अप्सरा के कारण उनका भी वीर्य स्खलित हुआ। उसे उन्होंने यज्ञ के एक द्रोण नामक पात्र में रख दिया। उससे द्रोण नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। महामुनि भरद्वाज अपने पुत्र को अन्य ब्रह्मचारियों के साथ वेद-वेदाङ्ग पढ़ाते थे।

मुनि के आश्रम मे उत्तर पाञ्चाल देश के भूपति महाराज पृषद् के पुत्र द्रुपद भी पढते थे। विद्या पढ़ते समय राजपुत्रो तथा मुनि पुत्रो मे कोइ भेद-भव तो होता ही नहीं था। द्रोण और द्रुपद साथ ही पढ़ते, साथ खेलते-कूदते। दोनों मित्र होकर, एक दूसरे से बडा स्नेह करने लगे। द्रोण धनुर्विद्या मे अद्वितीय थे। उन्होंने अपने पिता के शिष्य अग्निवेश से आग्नेयास्त्र सीखा था, परशुराम जी से धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की थी। कालान्तर मे महाराज पृषद् परलोक वासी हुए। द्रुपद पांचाल देश के राजसिंहासन पर विराजे। इधर भरद्वाज मुनि के अनन्तर महामुनि द्रोण अपने पिता के आश्रम मे रहकर धर्माचरण करने लगे। उनकी इच्छा गृहस्थ बनने की हुई। वे महाराज शन्तनु के समीप कृपी की *याचना करने गये। राजा ने योग्य वर समझकर सहर्ष कृपी का* विवाह द्रोणाचार्य के साथ कर दिया। कृपी जैसी पति परायणा पत्नी पाकर द्रोणाचार्य परम प्रमुदित हुए, वे उसके साथ अग्नि होत्र आदि समस्त धर्माचरण करने लगे। कुछ काल मे उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होते ही उसने अश्व जैसा थाम (शब्द) किया, अतः उसका नाम अश्वत्थामा हुआ। मुनि के पास तप रूप ही धन था। अन्य ऋषियों के पास गाएँ भी थीं। उनके बच्चे गो का दूध पीते थे। अश्वत्थामा के पिता द्रोणाचार्य के पास गाएँ नहीं थीं। मुनि पुत्रों की देखा देखी अश्वत्थामा भी दुग्ध मागते, तब कृपी आटे को जल में घोल कर दुग्ध बताकर उसे दे देतीं। पीछे अश्वत्थामा को विदित हुआ कि यह यथार्थ दूध नहीं है। द्रोणाचार्य को भी दुःख हुआ। उन्हें स्मरण आया कि उनका मित्र द्रुपद अब राजा बन गया है, अतः वह उनकी सहायता अवश्य करेगा। ऐसा सोचकर वे द्रुपद की राजधानी में गये। द्रुपद से मिलकर उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते

हुए कहा—"राजन् ! आपने मुझे पहचान लिया न ? मैं भरद्वाज-नन्दन आपका सुहृद् सखा और मित्र द्रोण हूँ। आपने कहा था, मैं राजा हो जाऊँगा तो तुम मेरे ऐश्वर्य का मेरे साथ उपभोग करना।"

इतना सुनते ही ऐश्वर्य के मद में मदान्ध हुए पांचाल देशाधिपति महाराज द्रुपद बोले—"ब्रह्मदेव तुम बड़े भोले हो। एक ऐश्वर्यशाली राजा की और एक दरिद्र ब्राह्मण की क्या मैत्री ! अरे, जब हम तुम एक दशा में रहते थे, तब परस्पर स्नेह था। मैत्री तो समान गुण वालों में होती है। अब मैं राजा हो गया, तुम वही दरिद्र ब्राह्मण हो, उन बातों को भूल जाओ। तुम ऐश्वर्य भोग की इच्छा छोड़ दो। यदि आवश्यकता हो, तो एक दिन का आटा तुम्हें दिला दिया जा सकता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महाराज द्रुपद के ऐसे तिरस्कार पूर्ण वचन सुनकर द्रोणाचार्य परम क्रुद्ध हुए, किन्तु उन्होंने कुछ कहा नहीं। जैसे चोट खाया सर्प क्रुद्ध होकर चला जाता है, वैसे ही वे मन ही मन द्रुपद से बदला लेने का निश्चय करके वहाँ से हस्तिनापुर चले गये। वहाँ जाकर वे अपने साले कृपाचार्य के घर में रहे। भीष्म पितामह कौरव-पाडवों को अस्त्र-शस्त्रों की अधिक शिक्षा देने के लिये किसी आचार्य की खोज में थे। जब उन्हें द्रोणाचार्य के आगमन का समाचार मिला, तब वे अत्यन्त हर्षित हुए। उन्होंने द्रोणाचार्य को उनका आचार्य नियुक्त कर दिया। तब से अन्त तक द्रोणाचार्य अपनी पत्नी कृपी और पुत्र अश्वत्थामा के साथ ही हस्तिनापुर में रहे। गुरु दक्षिणा में उन्होंने अपने शिष्यों से द्रुपद को बँधवाकर मँगाया और उसका आधा राज्य उससे लेकर छोड़ दिया। कृपाचार्य तो कौरवों के कुलगुरु थे ही। वे महाभारत के युद्ध में भी बच गये और धर्मराज

युधिष्ठिर के समीप अन्त तक रहे। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में कृप और कृपी की कथा कही। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! आपने मन्यु-पुत्र वृहत्क्षत्र के वंश का वर्णन तो किया। अब हम पांचाल देश के राजाओं के वंश को सुनने को उत्सुक हैं। कृपा करके उनकी कथा सुनाइये।"

सूतजी कहते हैं—"अच्छी बात है महाराज, अब मैं उनके ही वंश का वर्णन करता हूँ।"

छप्पय

कुरु-कुल के कृप भये सुतनि के शिक्षक घर महँ।
युवती निरखी कृपी भई चिन्ता नृप उर महँ॥
भरद्वाज सुत आइ ब्याह की इच्छा कीन्हीं।
ह्वै प्रसन्न नृप कृपी द्रोण कूँ विधिवत् दीन्हीं॥
द्रोण वीर्य तैं कृपी महँ, अश्वत्थामा सुत भये।
जगमहँ द्रोणाचार्य द्विज, वीर अग्रणी ह्वै गये॥

पाञ्चालवंशीय राजाओं का वंश

[७७९]

तस्य पुत्रशतं तेषां यवीयान्पृषतः सुतः ।
द्रुपदो द्रौपदी तस्य धृष्टद्युम्नादयः सुताः ॥ ❀

(श्री भा० ९ स्क० २२ अ० २ श्लोक)

छप्पय

दिवोदास सुत भये भूप मित्रेयु च्यवन तिनि ।
च्यवन कुमार सुदास भये सोमक आदिक उनि ॥
सोमक के शत तनय पृषद् सुत छोटे सब तैं ।
पृषद-पुत्र नृप द्रुपद द्रौपदी तनया तिन तैं ॥
धृष्टद्युम्न आदिक तनय, भये द्रुपद के जग-विदित ।
शत्रुसेन घन दूरि कर, रवि सम रणमहँ हैं उदित ॥

प्रतिशोध की भावना प्राणियों में स्वाभाविक है। एक चींटी को आप उँगली से दबावें, तो वह भी तुरन्त काट लेगी। वह भी बदला लेने को तत्पर हो जायगी। इसीलिये तो नीतिकारों ने कहा है—"मारने आने वाले को मार देने में कोई दोष नहीं

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! सोमक के सौ सुत हुए। उनमें पृषद् सबसे छोटे थे। पृषद् के पुत्र द्रुपद हुए। उनके द्रौपदी नाम की सुता और धृष्टद्युम्न आदि पुत्र हुए।"

है।" जितने बड़े-बड़े पुरुष हुए हैं, भगवान् के अवतार हुए हैं, सभी ने अपकारी से बदला लिया है। जो अपकार करने वाले से बदला नहीं लेते, उसे हृदय से क्षमा कर देते हैं, वे ही संत हैं, वे ही वन्दनीय हैं। नहीं तो सभी को अपने प्रति अपकार करने वाले पर क्रोध आता है, शक्तिभर उसके अनिष्ट के लिये प्रयत्न करते रहते हैं। यदि स्वयं बदला न ले सके, तो पुत्रों से कह जाते हैं— "इनसे उपकार का अथवा अपकार का बदला अवश्य लेना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे पाञ्चाल देश के नृपतियों के वंश का प्रश्न किया था। उसी का मैं वर्णन करता हूँ। मैं पहले बता चुका हूँ कि महाराज भर्म्याश्व के पाँच पुत्र हुए, जो पाञ्चाल कहलाये। इसी से देश का नाम पाञ्चाल पड़ा। उन पाँचों में मुद्गल सबसे बड़े थे। उनके दिवोदास नामक पुत्र और अहिल्या नामक पुत्री हुई। अहिल्या के वंश की कथा तो मैं कह चुका, अब आप दिवोदास के वंश का विस्तार श्रवण करें।"

महाराज दिवोदास के पुत्र मित्रेयु हुए। मित्रेयु के चार पुत्र हुए, जिनके नाम च्यवन, सुदास, सहदेव और सोमक हैं। इनमें से सोमक के सौ सुत हुए, जिनमें जन्तु सबसे बड़े थे और पृषद् सबसे छोटे। पृषद् के पुत्र महाराज द्रुपद हुए, जिनके अग्निकुण्ड से द्रौपदी की उत्पत्ति हुई और अग्निवेदी से बड़े पुत्र धृष्टद्युम्न की उत्पत्ति हुई।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! द्रौपदी की उत्पत्ति यज्ञकुण्ड से कैसे हुई और धृष्टद्युम्न कैसे यज्ञवेदी से पैदा हुए। कृपा करके इस वृत्तान्त को आप हमें सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, भगवन्! सुनिये मैं इस पुण्यप्रद परम पावन चरित को सुनाता हूँ। कृप और कृपी की कथा के प्रसंग में मैं द्रोणाचार्य के जन्म की कथा तो सुना

हो चुका हूँ। वे अपने सहपाठी, बाल्यकाल के मित्र द्रुपद के यहाँ धन की याचना करने गये थे। उस समय द्रुपद ने उनका अपमान किया और तिरस्कार करते हुए कहा—"राजा का मित्र राजा ही हो सकता है।"

यह बात धनुर्धर द्रोण के हृदय मे चुभ गई। उन्होने मन ही मन उनसे बदला लेने का निश्चय किया। वे हस्तिनापुर जाकर धृतराष्ट्र और पाडु के पुत्रों के धनुर्वेद के शिक्षक आचार्य हो गये। जब वे सब कुमार धनुर्विद्या सीख गये, द्रोणाचार्य ने गुरु-दक्षिणा का प्रसग आते ही कहा—"तुम सब जाकर राजा द्रुपद को उसके मन्त्रियों सहित बाँधकर मेरे पास ले आओ—यही तुम्हारी गुरु-दक्षिणा पर्याप्त है।"

इतना सुनते ही सभी कुमार तुरन्त गये और राजा द्रुपद की सेना को परास्त करके बात की बात में द्रुपद को बाँधकर द्रोणाचार्य के समीप ले आये। अपने सम्मुख बँधे हुए द्रुपद को देखकर अपनी भूरी-भूरी दाढी पर हाथ फेरते हुए वृद्ध मद मद मुस्कराते हुए आचार्य द्रोण बोले—"राजन्! बाल्य काल मे हमारी आपकी मैत्री थी, जब मैं आपके घर उसका स्मरण दिलाने गया, तब आपने कहा था—"बाल्यकाल की बातो को भूल जाओ।" उस समय हम दोनों एक सी दशा मे थे। अब मैं राजा हो गया, तुम भिक्षुक अतः अब मेरी तुम्हारी मैत्री कैसे हो सकती है, राजा का मित्र राजा ही हो सकता है।"

महाराज! मुझे तो आप से फिर मित्रता करनी थी। अब बिना राजा हुए मित्रता कैसे हो, इसीलिये मैंने आपको पकड़वा मँगाया है। आपका विस्तृत राज्य गगा के दक्षिण और दोनों ही तटो पर है। अब से आप तो गगा के

राज्य करे, मैं उत्तर तट पर राज्य करूँगा। तब हम में आप में पुनः मैत्री हो जायगी। क्यों, ठीक है न ?"

द्रुपद अत्यन्त लज्जित हुए। वे परास्त हो चुके थे, द्रोण के बन्दी थे, अधीन थे। अतः उन्होंने लजाते हुए अत्यन्त ही विनय के साथ कहा—"ब्रह्मन् ! आपकी बुद्धि विशाल है, आपकी विद्या फलवती है। आपके गुण अपार हैं। मैं आप के द्वारा परास्त हुआ। अब से आप जैसी भी आज्ञा देंगे, वैसा ही मैं किया करूँगा।"

द्रुपद की ऐसी विनयभरी बात सुनकर द्रोणाचार्य ने पुनः पूर्ववत् मैत्री स्थापना करके द्रुपद को छोड़ दिया। द्रुपद द्रोणाचार्य के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए अपने नगर चले गये, किन्तु द्रोणाचार्य के द्वारा अपमानित होने से उन्हे अत्यन्त ही आत्म-ग्लानि हुई। जैसे प्रेम से प्रेम बढता है, उसी प्रकार द्वेष से द्वेष बढ़ता है। द्रुपद मन ही मन द्रोणाचार्य से इस अपमान का बदला लेने की बात सोचने लगे। उन्होंने सोचा—"मैं द्रोण को अस्त्र-शस्त्रों से नहीं परास्त कर सकता। एक तो द्रोण स्वयं ही धनुर्विद्या विशारद हैं, दूसरे परशुरामजी से उन्होंने दिव्यास्त्रों की शिक्षा पाई है। फिर कौरव-पांडव उनके शिष्य हैं। अतः युद्ध में तो देवेन्द्र भी उनका सामना नहीं कर सकते। किसी प्रकार तन्त्र-मन्त्रों से मैं अपना बदला ले सकता हूँ, किन्तु ऐसा अभिचार-यज्ञ कराने वाले आचार्य मुझे कहाँ मिलेंगे ?" यह सोचकर राजा अत्यन्त ही चिन्तित हुए। वे राज्य का समस्त भार मन्त्रियों पर छोड़कर स्वयं वन-वन विद्वेष की अग्नि में जलते हुए द्रोण से बदला लेने के लिये मुनियों के आश्रमों में भटकने लगे।

एक बार वे ऋषि-आश्रमों में घूमते हुए एक सुन्दर आश्रम में पहुँचे। उन्होंने वहाँ तेजस्वी दो मुनियों को देखा। उनके तप और

तेज को देखकर राजा द्रुपद समझ गये, इनसे मेरे कार्य की सिद्धि हो सकती है। अतः वे अत्यन्त मनोयोग से उनकी सेवा-सुश्रूषा करने लगे। उन दोनों मुनिभाइयों के नाम याज और उपयाज थे। उपयाज यद्यपि छोटे थे, किन्तु अपने बड़े भाई से अत्यधिक तेजस्वी थे।

एक दिन एकान्त में उन्होंने उपयाज की विधिवत् पूजा करके कहा—"ब्रह्मन्! मेरी द्रोणाचार्य से अनबन हो गई है। उनके द्वारा मेरा अत्यन्त अपमान किया गया है। मैं उस अपमान की अग्नि से अहर्निश जलता रहता हूँ। ब्रह्मन्! मैं द्रोणाचार्य को युद्ध में नहीं जीत सकता। इसीलिये आपकी शरण में आया हूँ। आप मेरा यज्ञ करावें, जिससे कि मेरे द्रोणघाती पुत्र हो मेरा पुत्र द्रोण का वध कर सके।"

यह सुनकर उपयाज ने मधुर वचनों में कहा—"राजन्! आप मुझे ऐसा क्षुद्र समझते हैं क्या? मुझसे ऐसे जघन्य कार्य की आशा न रखें।"

द्रुपद ने कहा—ब्रह्मन्! मैं आपको दश करोड़ गौवें दूँगा। और भी आप माँगेंगे, वह दूँगा।"

इस पर उपयाज बोले—"राजन्! आप मुझे लोभ न दें। मैं लोभ के वशीभूत होकर कोई नीच कार्य नहीं कर सकता।"

यह सुनकर राजा को दुःख हुआ, किन्तु वे निराश नहीं हुए। उन्होंने फिर बड़ी सावधानी से उपयाज की सेवा की।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सेवा ऐसी वस्तु है कि इससे भगवान् भी वश में हो सकते हैं। जो किसी तरह भी वश में न आवे, वह सेवा से वश में आ सकता है। सती अपने सत्पति को सेवा से ही वश में कर लेती है। सत्सेवक स्वामी से सेवा द्वारा ही उचित-अनुचित कार्य करा सकता है। सेवा करने वाला सेवा

राज्य करें, मैं उत्तर तट पर राज्य करूँगा। तब हम में आप में पुनः मैत्री हो जायगी। क्यों, ठीक है न ?"

द्रुपद अत्यन्त लज्जित हुए। वे परास्त हो चुके थे, द्रोण के बन्दी थे, अधीन थे। अतः उन्होंने लजाते हुए अत्यन्त ही विनय के साथ कहा—"ब्रह्मन्! आपकी बुद्धि विशाल है, आपकी विद्या फलवती है। आपके गुण अपार हैं। मैं आप के द्वारा परास्त हुआ। अब मैं आप जैसी भी आज्ञा देंगे, वैसा ही मैं किया करूँगा।"

द्रुपद की ऐसी विनयभरी बात सुनकर द्रोणाचार्य ने पुनः पूर्ववत् मैत्री स्थापना करके द्रुपद को छोड़ दिया। द्रुपद द्रोणाचार्य के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए अपने नगर चले गये, किन्तु द्रोणाचार्य के द्वारा अपमानित होने से उन्हें अत्यन्त ही आत्म-ग्लानि हुई। जैसे प्रेम से प्रेम बढ़ता है, उसी प्रकार द्वेष से द्वेष बढ़ता है। द्रुपद मन ही मन द्रोणाचार्य से इस अपमान का बदला लेने की बात सोचने लगे। उन्होंने सोचा—"मैं द्रोण को अस्त्र-शस्त्रों से नहीं परास्त कर सकता। एक तो द्रोण स्वयं ही धनुर्विद्या विशारद हैं, दूसरे परशुरामजी से उन्होंने दिव्यास्त्रों की शिक्षा पाई है। फिर कौरव पाडव उनके शिष्य हैं! अतः युद्ध में तो देवेन्द्र भी उनका सामना नहीं कर सकते। किसी प्रकार तन्त्र-मन्त्रों से मैं अपना बदला ले सकता हूँ, किन्तु ऐसा अभिचार-यज्ञ कराने वाले आचार्य मुझे कहाँ मिलेंगे ?" यह सोचकर राजा अत्यन्त ही चिन्तित हुए। वे राज्य का समस्त भार मन्त्रियों पर छोड़कर स्वयं वन वन विक्षेप की अग्नि में जलते हुए द्रोण से बदला लेने के लिये मुनियों के आश्रमों में भटकने लगे।

एक बार वे ऋषि-आश्रमों में घूमते हुए एक सुन्दर आश्रम में पहुँचे। उन्होंने वहाँ तेजस्वी दो मुनियों को देखा। उनके तप और

तेज को देखकर राजा द्रुपद समझ गये, इनसे मेरे कार्य की सिद्धि हो सकती है। अतः वे अत्यन्त मनोयोग से उनकी सेवा-सुश्रूषा करने लगे। उन दोनों मुनिभाइयों के नाम याज और उपयाज थे। उपयाज यद्यपि छोटे थे, किन्तु अपने बड़े भाई से अत्यधिक तेजस्वी थे।

एक दिन एकान्त में उन्होंने उपयाज की विधिवत् पूजा करके कहा—"ब्रह्मन्! मेरी द्रोणाचार्य से अनबन हो गई है। उनके द्वारा मेरा अत्यन्त अपमान किया गया है। मैं उस अपमान की अग्नि से अहर्निश जलता रहता हूँ। ब्रह्मन्! मैं द्रोणाचार्य को युद्ध में नहीं जीत सकता। इसीलिये आपकी शरण में आया हूँ। आप मेरा यज्ञ करावें, जिससे कि मेरे द्रोणघाती पुत्र हो मेरा पुत्र द्रोण का वध कर सके।"

यह सुनकर उपयाज ने मधुर वचनों में कहा—"राजन्! आप मुझे ऐसा क्षुद्र समझते हैं क्या? मुझसे ऐसे जघन्य कार्य की आशा न रखें।"

द्रुपद ने कहा—ब्रह्मन्! मैं आपको दश करोड़ गौवें दूँगा। और भी आप माँगेंगे, वह दूँगा।"

इस पर उपयाज बोले—"राजन्! आप मुझे लोभ न दें। मैं लोभ के वशीभूत होकर कोई नीच कार्य नहीं कर सकता।"

यह सुनकर राजा को दुःख हुआ, किन्तु वे निराश नहीं हुए। उन्होंने फिर बड़ी सावधानी से उपयाज की सेवा की।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सेवा ऐसी वस्तु है कि इससे भगवान् भी वश में हो सकते हैं। जो किसी तरह भी वश में न आवे, वह सेवा से वश में आ सकता है। सती अपने सत्पति को सेवा से ही वश में कर लेती है। सत्सेवक स्वामी से सेवा द्वारा ही उचित-अनुचित कार्य करा सकता है। सेवा करने वाला सेवा

करते करते स्वामी बन जाता है। स्वामी उसके अधीन हो जाता है। हृदय से सर्वस्व समर्पित करके जो सेवा करते हैं फिर वह सेवा चाहे स्वार्थ से ही क्यों न की जाय, कभी भी व्यर्थ नहीं होती। द्रुपद की सेवा से पिघलकर एक दिन उपयाज बोले— "राजन्! आप इतने मनोयोग से मेरी सेवा क्यों करते हैं? आप मुझसे इस कार्य की आशा छोड दें।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! अब मैं कहाँ जाऊँ मैंने तो आपके ही चरणों की शरण ली है, अब चाहे आप मुझे अपनावें या ठुकरा दें। स्वय न करें, तो मुझे कोई इसका उपाय बता दें।"

मुनि उपयाज बोले—"हाँ, महाराज! मैं आपको उपाय बताये देता हूँ। मेरे बडे भाई याज इस कार्य को करा सकेंगे। मेरा अनुमान है, वे इतनी भारी दक्षिणा के लोभ से उचित अनुचित का विचार न करेंगे। एक बार हम दोनों भाई कहीं जा रहे थे। मार्ग में एक फल पडा हुआ मिला। मेरे भाई ने उसे तुरन्त उठा लिया और साथ लेकर चल दिये। उन्होंने यह भी विचार नहीं किया, कि जहाँ यह फल पडा है, यह पावन पृथ्वी है या अपावन, यह फल ग्राह्य है या अग्राह्य। जो इस प्रकार बिना पवित्रता-अपवित्रता का विचार किये जिस किसी वस्तु को ग्रहण कर सकता है, उसके लिये उचित अनुचित कुछ भी नहीं। बाल्यकाल में जब हम दोनों भाई पढते थे, तब मेरे भाई औरों की उच्छिष्ट वस्तुओं को बडे स्वाद से खा जाते थे। स्वादिष्ट वस्तु में वे उच्छिष्ट-अनुच्छिष्ट का विचार ही नहीं करते थे। इन सब बातों से मैं अनुमान करता हूँ, वे अवश्य ही तुम्हारा अभिचार-यज्ञ करा देंगे।"

याज की इन बातों को सुनकर महाराज द्रुपद को मन ही मन याज की ओर से घृणा हुई। किन्तु वे करते क्या? स्वार्थी पुरुष

लोगों की ओर नहीं देखता। वह तो जैसे हो, तैसे अपने स्वार्थ की सिद्धि करना चाहता है। उपयाज की बात मानकर वे याज के समीप गये।

याज के समीप जाकर राजा ने आदि से अन्त तक सब वृत्तान्त बताते हुए प्रार्थना की—"प्रभो ! आप सर्वसमर्थ हैं। मुझसे ऐसा यज्ञ करावें, जिससे मेरे द्रोण को मारने वाला पुत्र हो। मैं आपको एक अर्बुद गौएँ दूँगा।"

मुनिवर याज ने राजा द्रुपद की प्रार्थना सहर्ष स्वीकार कर ली। द्रुपद को अत्यन्त ही हर्ष हुआ। याज मुनि ने जो-जो सामग्रियाँ बताई थीं, वे सब उन्होंने अल्पकाल में ही एकत्रित कर ली। कार्य बड़ा था, अतः उन्होंने उपयाज से भी सहायता करने का आग्रह किया। उपयाज की इच्छा नहीं थी, फिर भी बड़े भाई के गौरव तथा द्रुपद के आग्रह से याज के कार्यों में उन्होंने सहयोग दिया। बहुत विधि विधान पूर्वक यज्ञ के सभी कार्य हुए। यज्ञ के अन्त में मुनि ने द्रुपद की रानी को बुलाकर कहा—"देवि ! तुम अविलम्ब यहाँ आओ और यज्ञ शिष्ट हवि को लेकर खाओ।

रानी ने कहा—"ब्रह्मन् ! आज मैं देर तक सोती रही। अभी तो मैंने दँतौन-कुल्ला तक नहीं किया रात्रि के अगराग-चन्दन आदि मेरे अङ्ग में ज्यों-के-त्यों लगे हैं। अभी मैं शौच जाऊंगी। दँतौन-कुल्ला करके स्नान करूँगी, तब आपके समीप आने योग्य होऊँगी। तब तक आप मेरी प्रतीक्षा करें।"

महामुनि याज ने इसमें अपना अपमान समझा और बोले—"देखो, रानीजी ! मैंने बड़े परिश्रम से, अत्यन्त विधि विधान से इस हवि को तैयार किया है। यज्ञ-कार्यों में विलम्ब न होना चाहिए। तुम अविलम्ब आकर इस हवि को लेना चाहो, तो ले लो। न लेना चाहती हो, तो बाहर खड़ी-खड़ी तमाशा देखती रहो।"

यह कहकर मुनि ने अभिमन्त्रित हवि को सन्तान के संकल्प से तुरन्त अग्नि मे होम दिया। उसके होमते ही अग्नि से एक बड़ा ही तेजस्वी पुत्र कवच धारण किए निकला। वह परम तेजस्वी था। वह अमर्ष से इठलाता हुआ निकला, निर्भय होकर चारों ओर देखने लगा। फिर एक अत्यन्त ही रूपवती कन्या उत्पन्न हुई। उसका वर्ण कृष्ण कमल के समान था, वह सौन्दर्य में अद्वितीया थी। ऋषियो ने पुत्र का नाम धृष्टद्युम्न रखा और पुत्री का नाम कृष्णा रखा। द्रुपद की पुत्री होने से इसे द्रौपदी भी कहते हैं। धृष्टद्युम्न के उत्पन्न होने पर आकाशवाणी हुई—"यह पाञ्चालो के यश को बढावेगा और द्रोण का वध करेगा।"

द्रुपद की रानी यज्ञवेदी से अत्यन्त सुन्दर सुकुमार पुत्र पुत्री को निकलते देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। वह हाथ जोड़कर ऋषियो से बोली—"विप्रगण! आप सब ऐसा आशीर्वाद दें कि ये दोनों बच्चे मुझे ही अपनी माता मानें। किसी दूसरी स्त्री में इनका मातृभाव न हो।"

ब्राह्मणों ने कहा—"ऐसा ही होगा।" तभी से वे दोनों बच्चे द्रुपद की बड़ी रानी को अपनी सगी माँ मानने लगे।

धृष्टद्युम्न बड़ा हुआ, तब द्रुपद उसे लेकर द्रोणाचार्य के समीप गये और विनीत भाव से बोले—"आचार्य-प्रवर! यह आपका बालक है, इसे आप धनुर्वेद की विधिवत् शिक्षा दें।"

द्रोणाचार्य तो सब जानते ही थे। उनसे यह बात अविदित नहीं थी कि यह मुझे मारने के निमित्त ही यज्ञवेदी से उत्पन्न हुआ है। फिर भी उन्होंने अपने आचार्य-पद के गौरव से उसे धनुर्वेद की शिक्षा दी। कृष्णा (द्रौपदी) बड़ी होने पर पाँचों पाडवों की पत्नी हुई।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप मे

आगे धृष्टद्युम्न और द्रौपदी की उत्पत्ति की कथा सुनाई। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ? धृष्टद्युम्न का पुत्र धृष्टकेतु हुआ। इसी प्रकार पाञ्चालवंश आगे चला।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! अब आप कौरवों के वंश का वर्णन सुनावें। वे कुरु कौन थे ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! वे कुरु भरतवंश में ही उत्पन्न हुए थे। महाराज बृहत्क्षत्र के पुत्र जो हस्ति हुए उनके बड़े पुत्र अजमीढ़ थे। उनके कई रानियाँ थीं। उनके कुछ पुत्रों के वंश का वर्णन तो मैं पीछे कर ही चुका हूँ। उनके एक ऋक्ष नामक पुत्र था। ऋक्ष के संवरण नामक सुत हुआ। ये संवरण बड़े ही धर्मात्मा और यशस्वी थे। इनका विवाह सूर्य की कन्या तपती के साथ हुआ। कुरुकुल के संस्थापक महाराज कुरु इनके ही गर्भ से उत्पन्न हुए। महाराज संवरण ने सूर्य भगवान् की आराधना करके ही उनकी पुत्री तपती प्राप्त की। इसी से कौरव-पांडव तापत्य भी कहलाते थे।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आप हमें परम धर्मात्मा महाराज संवरण की कथा विस्तार के साथ सुनावें। किस प्रकार उनका विवाह तपती के साथ हुआ।"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है महाराज ! अब मैं संवरण और तपती की कथा आपको सुनाता हूँ। आप सावधान होकर इसे श्रवण करें।"

छप्पय—*हस्ती सुत अजमीढ़ नृपति के ऋक्ष अपर सुत।*
तासु पुत्र संवरण तेज-तप परम कीर्तियुत॥
नृप बड़भागी परम सेन सँग मृगया-हित बन।
गये, प्रकृति-सौन्दर्य निरखि प्रमुदित नृप को मन॥
लख्यो विशाल वराह पन, एकाकी पीछो कियो।
दौरत ठोकर खाय कें, गिर्यो तुरत हय मरि गयो॥

महाराज संवरण की कथा

[७८०]

धृष्टद्युम्नाद्धृष्टकेतुर्भार्म्याः पञ्चालका इमे ।
योऽजमीढसुतो ह्यन्य ऋक्षः संवरणस्ततः ॥*

(श्री भाग० ९ स्क० २२ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

पोंइ पियादे अश्वहीन नृप वन महँ डोलें ।
परम मनोहर प्रान्त मधुर सुर शुक-पिक बोलें ॥
शीतल मन्द-सुगन्ध पवन बहि सुख उपजावें ।
हरित दूब दल नीर निरखि नृप-नयन जुड़ावें ॥
निरखी निभृत निकुञ्ज महँ, नारी नयनानन्दिनी ।
करत प्रकाशित प्रान्तकूँ कनकलता-सम कामिनी ॥

विपत्ति आती है, तो हम अधीर हो जाते हैं, हानि होती है, तो हम दुःखी हो जाते हैं। पर, हम इस बात को भूल जाते हैं कि मंगलमय प्रभु कभी अपने पुत्रों का अमंगल नहीं करते। नित्य सुखरूप श्याम किसी को दुःख दे ही नहीं सकते। विपत्ति भी सम्पत्ति के निमित्त ही आती है। दुःख की प्राप्ति, सुख के लिये

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न के पुत्र धृष्टकेतु हुए। भर्म्याश्व के ये सभी वंशज पाञ्चाल कहलाये। अब तुम अजमीढ के दूसरे पुत्र ऋक्ष की वंशावली सुनो। ऋक्ष के पुत्र संवरण हुए।"

ही है, हानि, लाभ के लिये ही होती है। हानि मे भी हमे इस बात का पूर्ण विश्वास रखना चाहिये कि भगवान् हमें इससे अधिक लाभ देने के निमित्त ही हमारी यह हानि कर रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे पुण्यश्लोक महाराज सवरण की कथा पूछी थी। महाराज ऋत्त के पुत्र सवरण वडे ही सुन्दर तथा प्रिय-दर्शन थे। प्रजा उनके दर्शनों से उसी प्रकार प्रमुदित होती, जिस प्रकार शरद के पूर्णचन्द्र को देखकर चकोर प्रमुदित होते हैं। वे धर्मात्मा, न्यायप्रिय, सत्यवादी तथा दीनवत्सल थे। रूप मे, उदारता मे तथा समस्त गुणों मे वे अद्वितीय थे। महाराज मृगया प्रिय थे। वे यदा कदा सैनिक तथा सेवकों के साथ मृगया के निमित्त जाया करते थे।

एक दिन वे अपने सचिव, सेनिक-सामन्तों तथा सेवकों के सहित एक रमणीय पर्वत प्रान्त मे मृगया के निमित्त गये। वहाँ उन्होंने अनेक हिंसक मेध्य पशुओं को मारा और आनन्द पूर्वक साथियों सहित एक वन से दूसरे वन मे विचरण किया। कुछ दूर जाने पर महाराज को एक विशालकाय शूकर दिखाई पडा। राजा ने अपना घोडा उसके पीछे छोडा। शूकर वडा ही शीघ्रगामी था, वह वायु वेग से दौडने लगा। राजा ने सम्पूर्ण शक्ति लगाकर घोडे की वाग थामी। घोडे ने भी अपना पूर्ण वल लगा दिया। वह ऐसा लगता था, मानो आकश में उड रहा हो। आगे एक चट्टान दिखाई दी। घोडे को ठोकर लगी। ठोकर लगते ही महाराज दूर बालू में गिर गये और घोडा गिरते ही मर गया।

निर्जन बीहड वन मे राजा एकाकी रह गये। उनका जो एक साथी अश्व था, वह भी पञ्चत्व को प्राप्त हो गया। वालू पर गिरने के कारण राजा के शरीर मे चोट नहीं लगी। घोडे को वहीं छोडकर महाराज इधर उधर पर्वत से सुहावने प्रान्त में परिभ्रमण

करने लगे। वसन्त की ऋतु थी। वन-श्री सम्पूर्ण शृङ्गार करके अपने प्रियतम को रिझाने के निमित्त खड़ी थी। शीतल-मन्द सुगन्धित पवन हर-हर कर चल रहा था। झरने झर रहे थे। सरिता स्वच्छ-शीतल सलिल के साथ वही जा रही थी। वृक्षों पर बैठे विहङ्ग भूपति के स्वागत में मानो गीत गा रहे थे। प्रकृति के ऐसे सुहावने लुभावने सौन्दर्य को देखकर राजा अत्यन्त हर्षित हुए। वे उल्लास के साथ आगे बढ़ने लगे। आगे वे क्या देखते हैं कि पर्वत का एक सुन्दर-सुहावना शिखर है। उस पर पारिजात के छोटे-छोटे सघन वृक्ष लगे हैं। उन पर से स्वतः ही लाल डंठलियों वाले सफेद फूल गिर-गिर कर पृथ्वी पर बिछौना-सा बिछा रहे थे, मानों किसी ने हरे मखमली गलीचे के ऊपर बेल-बूटे काढ़ दिये हो। वृक्षों के झुरमुट में से राजा ने देखा—वहाँ सुवर्ण प्रतिमा के समान एक अत्यन्त ही सुन्दरी-सुकुमारी बाला बैठी है, उसके शरीर से एक दिव्य तेज निकल रहा है, वह सूर्य की प्रभा के समान अग्नि-ज्वाला के समान, घनीभूत, तेज के समान, चमक रही है, उसका मुख कमल के समान मृदु और स्निग्ध है, उसके काले-कुञ्चित केश, भ्रमरों की पंक्ति के समान कृष्ण मुख मण्डल पर विथुर रहे हैं। वह मूर्तिमती सुन्दरता सी दिखाई देती है। उसके विशाल ललाट पर तिलक उसी प्रकार शोभित हो रहा है, मानों सुवर्ण के कमल पर वीरबधूटी बैठी हो। उसके कमल के समान बड़े-बड़े विकसित नेत्र सरस अनुराग से लबालब भरे हुए थे। कृष्णा नागिन के समान उसकी पीठ पर वेणी झूल रही थी। वह हँसती हुई प्रकृति-सौन्दर्य, को अत्यन्त ही अनुराग भरी दृष्टि से निहार रही थी। दृष्टि पड़ते ही महाराज संवरण अपने आपे को भूल गये। उसके निकट जाकर अत्यंत ही मधुर स्वर में बोले—"देवि ! तुम कौन हो ? ऐसा सौन्दर्य तो मैंने कभी देवताओं, किन्नरों, गन्धर्वों तथा

विद्याधरों में भी नहीं देखा, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या ?"

यह सुनकर वह सुन्दरी युवती ससकोच खडी हो गई। उसने एक शब्द भी मुख से नहीं निकाला।

फिर राजा ने अधीर होकर कहा—"हे वरवर्णिनि ! तुम लजाती क्यो हो ? मुझे अपना परिचय दो। मैं भरतवशीय महाराज ऋक्ष का पुत्र हूँ। सवरण मेरा नाम है। तुम्हारे दर्शन से ही मेरी सुधि-बुधि जाती रही। तुम मेरे ऊपर कृपा करो। आज तक अनेक युवतियाँ मैंने देखी हैं, किन्तु ऐसा सौन्दर्य, इतना माधुर्य, ऐसी अनुपम आभा, मुझे आज तक कहीं भी दिखाई नहीं दी।"

राजा के मुख से अपनी ऐसी प्रशसा सुनकर वह सुन्दर दॉतो वाली बाला हॅस पडी और हॅसते-हॅसते ही वह आकाश की ओर अन्तर्धान हो गई। उस रूप की राशि ललना-ललाम को अपनी दृष्टि से ओझल होते देख, राजा मूर्छित होकर भूमि पर गिर गये। उन्हे अपने शरीर की सुधि-बुधि नहीं रही। वह शोक-सन्तप्त होकर लम्बी-लम्बी सॉसें लेने लगे।

कुछ काल के अनन्तर महाराज ने नेत्र खोले। वे क्या देखते हैं—"वही रति के समान सुन्दरी रमणी उनके सम्मुख खडी है और वीणा-विनिन्दित स्वर म सकोच के साथ शनैः शनैः कह रही है—"हे नरदेव ! आप इस सप्त द्वीपवती वसुमती के एक छत्र अधिपति हैं। आपका इस प्रकार मोह के वशवर्ती होना शोभा नहीं देता।"

उस युवती के ये शब्द राजा के कर्ण-कुहरों मे मानो सुधारस उडेल रहे हो। उसके मधुमय सगीतमय सरस शब्दों को सुनकर सवरण बोले—देवि ! मैं तुम्हारे सौन्दर्य-सुधा के सागर में डूबकर मूर्छित हो गया हूँ। हे भामिनि ! तुम मुझे जीवन-दान दे सकती

हो। यदि तुम मुझे अपना लो, मुझे अपना अनुचर बना लो, तो मैं जीवित रहता हूँ, अन्यथा मैं तो अपने जीवन की आशा छोड़ चुका हूँ।"

इस पर उस तेज-पुञ्ज रमणी ने कहा—"हे नरदेव! आप तो संसार के समस्त पुरुषों में सुन्दर हैं। आपका ऐश्वर्य अपार है। आप ऐसे व्याकुल क्यों हो रहे हैं?"

राजा ने कहा—"हे चन्द्रानने! तुम्हें निमित्त बनाकर यह अनङ्ग छिपकर मेरे ऊपर निरन्तर बाणों की वर्षा कर रहा है। इससे मेरा सम्पूर्ण शरीर क्षत-विक्षत हो गया है। यदि तुम मेरी वशवर्तिनी बन जाओ, तो मैं अपने को विश्व विजयी अनुभव करने लगूँ। यदि तुम मेरे साथ गान्धर्व विवाह कर लो, तो मेरे शरीर में नवजीवन का संचार होने लगे।"

इस पर वह वाराङ्गना बोली—"हे पुरुषोत्तम! मैं अपने शरीर को किसी के अधीन करने में स्वाधीन नहीं हूँ। मैं अभी कुमारी हूँ। मेरे पिता मुझे जिसे देंगे, उसी के साथ मुझे जीवन बिताना पड़ेगा।"

राजा ने पूछा—"हे सुभ्रु! तुम किसकी पुत्री हो? तुम्हारे पिता कहाँ निवास करते हैं?"

कन्या ने कहा—प्रभो! मैं सम्पूर्ण प्राणियों के कर्मों के साक्षी चराचर के स्वामी, तेजोराशि भगवान् सूर्यनारायण की पुत्री हूँ। सावित्री मेरी बड़ी बहन है। मैं उससे छोटी हू, तपती मेरा नाम है। यदि आप मुझे पाना चाहते हैं, तो मेरे पिता के पास जाकर याचना कीजिये। महाराज! जिस प्रकार आप मेरे लिये अधीर हो रहे हैं, उसी प्रकार मैं भी आपके बिना विकल बनी हुई हूँ। किन्तु पण्डितों ने स्त्रियों की स्वाधीनता की निन्दा की है। बाल्य-काल में वे पिता तथा पालक के अधीन रहती हैं, यौवन में उन्हें

पति के अधीन रहना पडता है और वृद्धावस्था मे पुत्रों की इच्छानुसार चलना पडता है। आप पूजा, व्रत, तपस्या, उपवास तथा प्रणाम के द्वारा मेरे पिता को प्रसन्न कर ले। वे प्रसन्न होकर मुझे अवश्य ही आपको दे देंगे।"

इतना कहकर तपती तुरन्त वहीं आकाश म अन्तर्धान हो गई। राजा पुन मूर्छित होकर भूमि पर गिर पडे। इतने म ही राजा के सैनिक, मन्त्री तथा सेवक टोह लेते-लेते वहाँ आ पहुँचे। घोडे को मृतक देखकर वे सब डर गये और भाँति-भाँति की कल्पना करने लगे। जब आगे बढकर उन्होंने राजा को मूर्छित देखा, तब वे सभी दु खी हुए। उन्होंने राजा का मूर्छा भङ्ग करने के निमित्त विविध प्रकार के उपचार किये। उनके मुकुट को उतार कर सिर पर शीतल सलिल की धार छोडी। कमलों का मुकुट-सा बनाकर उसके सिर पर रखा, किन्तु वे कमल क्षण भर मे सूख गये। राजा कुछ-कुछ सचेत हुए अपने सैनिका, साथियों और सचिवों को देखकर वे और भी अधीर हो गये। बूढे मन्त्री ने अनुमान से जान लिया कि राजा काम पीडित होकर ऐसी चेष्टायें कर रहे हैं। अत उन्होंने सबको हटाया और शनै -शनै राजा से सब बातें पूछीं। राजा ने एक एक कर सब बातें बताई। मन्त्री ने राजा की आज्ञा से सभी सैनिकों को विदा किया। वे राजा के साथ अकेले ही उस वन मे रह गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज सवरण अपने बूढे मन्त्री की सम्मति से सूर्यनारायण को प्रसन्न करने के निमित्त तपस्या तथा अनुष्ठान करने लगे।"

छप्पय

निरखि भये आसक्त देह की सुधि बिसराई।
मुछित भूपति लखे सुन्दरी नृप ढिँग आई॥
समुझाये बहु भाँति कहें सवरण भामिनी।
तीन लोक महँ लखी नहीं तव सरिस कामिनी॥
मोहिँ बचाओ काम तेँ, मारहिँ शर घायल करहि।
अपनाओ यदि मोइ तुम, तो यह अरि डरिकेँ भगहि॥

तपती और संवरण का विवाह

[७८१]

तपत्यां सूर्यकन्यायां कुरुक्षेत्रपतिः कुरुः ।
परीक्षित्सुधनुर्जह्नु निषधाश्वः कुरोः सुता ॥*
(श्री भाग० ९ स्क० २२ अ० ४ श्लोक)

छप्पय

बोली तपती—नृपति ! मोइ रवितनया मानो ।
कन्या जनक अधीन होहि तुम सब कछु जानो ॥
करो याचना जाइ दान यदि पितु दे देवैं ।
तो हम तुम मिलि धर्मयुक्त कामहिँ नित सेवैं ॥
यों कहि अन्तरहित भई, नृप पुनि मूर्छा तैं जगे ।
तपती-हित उपवास व्रत, दृढ जप-तप करिवे लगे ॥

जिसे कोई कामना ही नहीं, वह जीव ही नहीं। जीव-संज्ञा तो काम से होती है। भगवान् को कोई कामना नहीं। वे जब जीवों को सुख देने की कामना करते हैं, तब अपनी भगवत्ता भूल कर अवनि पर अवतरित होते हैं और जीवों के ही समान क्रीडा

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज संवरण का विवाह सूर्य-कन्या तपती के साथ हुआ। उससे उनके कुरुक्षेत्रपति महाराज कुरु हुए। कुरु के परीक्षित, सुधनु, जह्नु और निषधाश्व नामक पुत्र हुए।"

करने लगते हैं। जीव, यदि उन्हें ही अपना सच्चा सुहृद् और सर्वस्व समझ कर, उनसे ही, अपनी सब वासनाओं को कहे, अपनी सब इच्छायें उनके ही अर्पण कर दे, तब तो उसे सब कुछ मिल जाता है, इहलोक और परलोक दोनों के ही सुख प्राप्त हो जाते हैं। यदि ऐसा न करके, जीव काम के ही अधीन हो जाता है, तो उसे चौरासी के चक्कर में भटकना पड़ता है। धर्म, अर्थ काम अथवा मोक्ष की—जो भी—इच्छा अपने मन में उठे, उसी के लिये भगवान् की शरण लेनी चाहिये। उन्हीं के निमित्त जप, तप, व्रत, उपवास आदि करना चाहिये। वाञ्छा-कल्पतरु भगवान् जीव की सभी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं, वे चाहे इस लोक की हों, या परलोक की।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! काम-सन्तप्त महाराज सवरण को जब तपती ने सूर्यनारायण की शरण में जाने को कहा, तब राजा ने अपने समस्त साथियों को विदा कर दिया। वे अकेले पर्वत शिखर पर बैठकर सूर्यदेव की आराधना करने लगे। शुद्ध होकर उन्होंने जगत्पति सूर्यनारायण को प्रणाम किया और वे निराहार एक पैर खड़े होकर तपस्या करने लगे। उन्होंने अपने कुल-गुरु भगवान् वशिष्ठ का स्मरण किया। बारहवें दिन ब्रह्मर्षि वशिष्ठ राजा के सम्मुख उपस्थित हुए। एकान्त में अपने गुरु को पाकर महाराज सवरण परम प्रमुदित हुए। उन्होंने भूमि में लोट-कर गुरु के पाद पद्मों में प्रणाम किया और उनकी यथोपलब्ध उपचारों से पूजा की।

राजा की पूजा को स्वीकार करके मुनि बोले—"राजन्! मैंने योग-बल से आपके समस्त मनोगत भावों को जान लिया है। मैं भगवान् विवस्वान् सूर्यनारायण के समीप जाऊँगा और उनसे तुम्हारे लिये उनकी कन्या की याचना करूँगा। मुझे आशा है,

भगवान् भुवन भास्कर मुझे निराश न लौटावेंगे। वे अवश्य तुम्हारे लिये अपनी परम सुन्दरी सुकुमारी कन्या को दे देंगे।"

राजा ने हाथ जोड़कर विनीत भाव से कहा—"ब्रह्मन्! मुझे आपका ही तो एकमात्र भरोसा है।"

राजा की इस बात से मुनि प्रसन्न हुए। वे आकाश-मार्ग से उड़कर योग प्रभाव द्वारा सूर्यलोक में पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपने दिव्य रथ पर विराजमान प्रभापति भगवान् सूर्यदेव को देखा। हाथ जोड़ वशिष्ठजी ने कहा—"प्रभो! मेरा नाम वशिष्ठ है, मैं ब्रह्माजी का मानसिक पुत्र हूँ। मैं आपके चरणों में श्रद्धा-सहित प्रणाम करता हूँ।"

वशिष्ठजी का परिचय पाकर सूर्यदेव अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—"वशिष्ठ! आप भले आये, आपका स्वागत है। आइए, मेरे पास इस आसन पर बैठिये।"

ऐसा कहकर सूर्यदेव ने सत्कारपूर्वक वशिष्ठजी को अपने समीप बिठाया और बोले—"वशिष्ठ! आपके आने का कोई विशेष प्रयोजन हो, तो आप मुझसे निःसङ्कोच कहें।"

सूर्यदेव से सत्कृत होकर ब्रह्मर्षि प्रवर वशिष्ठजी बोले—"भगवन्! आजकल पृथ्वी पर ऋक्ष के पुत्र महाराज संवरण राजा हैं। वे बड़े ही सुशील, धार्मिक तथा प्रजा वत्सल हैं। पृथ्वी पर उनके समान सुन्दर, तेजस्वी, धर्मात्मा दूसरा कोई राजा नहीं है। अतः उनके लिये मैं आपसे, आपकी तपती नाम की कन्या को माँगने आया हूँ।"

यह सुनकर सूर्यदेव प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"मुनिवर! मैं अपनी छोटी पुत्री तपती के लिये बड़ा चिन्तित था, क्योंकि वह जैसी सुन्दरी, सुशीला है, उसके लिये वैसा योग्य पति मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। ऋक्ष कुमार महाराज संवरण समस्त

नर-पतियो मे श्रेठ हैं। उनके समान सुशील, सुन्दर, सर्वगुण-सम्पन्न दूसरा वर मुझे तपती के लिये और कहाँ मिल सकता है ? फिर आप जैसे ब्रह्मज्ञानी ऋषि-श्रेष्ठ मुझसे याचना करने आये हैं। यह तो मेरा तथा तपती का अहोभाग्य है। ब्रह्मन ! यह आपकी ही पुत्री है, आप जिसे चाहे इसे दें।" यह कहकर सूर्य भगवान्
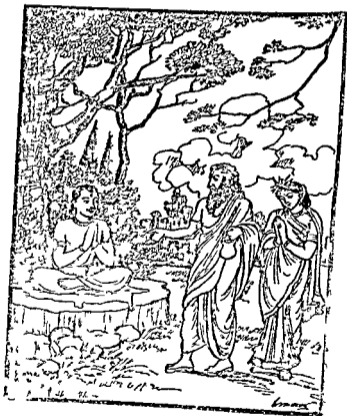
ने तपती को महामुनि वशिष्ठ के साथ कर दिया। वशिष्ठजी सूर्य

की प्रभा के समान दमकती हुई उस कन्या को लेकर आकाश मार्ग से अवनि पर उतरने लगे।

इधर महाराज सवरण तपती के निमित्त बिना कुछ खाये पिये मौन धारण करके घोर तपस्या कर रहे थे। बारह दिन उन्हें बिना अन्न-जल के हो गये थे। द्वादशादित्य भगवान सूर्य ने इनके गुणों को देख कर इन्हें अपनी कन्या दे दी। दूर से ही राजा ने वशिष्ठ के साथ विद्युत के समान, मूर्तिमती तपस्या सिद्धि के समान, उस ललना-ललाम को अवनि पर उतरते हुए देखा। राजा के नयन खिल गये। प्रसन्नता प्रकट करते हुए राजा ने मुनि के पाद पद्मों में प्रणाम किया। तब वशिष्ठजी ने विधिवत् तपती का विवाह सवरण के साथ कर दिया।

तपती को पत्नी रूप में पाकर महाराज परम प्रमुदित हुए। उन्होंने अपना हृदय तथा सर्वस्व तपती को अर्पित कर दिया। तपती ने भी राजा के चरणों में अपने को अर्पित कर दिया। अब राजा को तपती के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। राज पाट, पुर, परिवार—सभी से वे उदासीन हो गये। प्रधान बूढ़े मन्त्री उनके निकट ही थे। राज्य भार उन्हीं को सौंपकर वे तपती के साथ वन में ही वास करने लगे। वे उसे सुन्दर सुन्दर वन-उपवनों में ले जाते। भाँति भाँति के पुष्प चुनकर वे उसके लिये हार बनाते, स्नेह भरित हृदय से उसे पहनाते पुष्पों का शृङ्गार करते, वेणी-गूँथते समय उसमें रंग बिरंगे पुष्पों को लगाते। साराश, अब उनका सम्पूर्ण समय तपती को प्रसन्न करने में ही व्यतीत होने लगा। वे प्रजा पालन रूप क्षत्रिय धर्म से पराङ मुख हो गये। इससे समय पर वर्षा नहीं हुई, पृथ्वी से अन्न उत्पन्न नहीं हुआ। भूख के कारण प्रजा हाय-हाय करके रोने लगी। बारह वर्ष तक वन में ही रहे। तब तक अनावृष्टि तथा

के कारण सभी प्रजा दुःखी रही। सब लोग मिलकर भगवान् वशिष्ठ के समीप गये और बोले—"ब्रह्मन्! आप हमारे राजा को कहाँ छोड़ आये? हम तो बिना अन्न के भूखों ही मर जावेंगे। आप अविलम्ब कोई उपाय करें।"

यह सुनकर वशिष्ठजी ने कहा—"प्रजागण! आप किसी प्रकार की चिंता न करें, मैं तुम्हारे सभी दुःखों को दूर करूँगा।"

यह कहकर भगवान् वशिष्ठ ने तपती के सहित राजा संवरण को बुलाया। उनके नगर में आते ही देव स्वतः ही बरसने लगे। फिर राजा बारह वर्षों तक तपती के साथ यज्ञ करते रहे, जिससे सभी प्रजा को परम सुख हुआ। राजा फिर धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। कालान्तर में तपती के गर्भ से महाराज के कुरु नामक बड़े तेजस्वी, प्रभावशाली पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम पर आगे यह वंश कौरव-वंश के नाम से विख्यात हुआ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कुरु के परीक्षित्, सुधनु, जह्नु और निषधाश्व—ये चार पुत्र हुए। इनमें से सुधनु से सुहोत्र, सुहोत्र से च्यवन, च्यवन से कृती और महाराज कृती के ही उपरिचर वसु हुए। ये बड़े धर्मात्मा राजा थे। ये विमान में ऊपर ही उड़ा करते थे। इसलिये इनका नाम उपरिचर हुआ। मैं आपको इन धर्मात्मा राजा की कथा सुनाता हूँ।"

छप्पय

गुरु वशिष्ठ रवि निकट गये विनती बहु कीन्हीं।
माँगी तपती हरषि सूर्य नृप-हित दै दीन्हीं॥
विधिवत् करयो विवाह भये दोऊ अति प्रमुदित।
प्रिया प्रेम महँ फँस्यो संवरण भूपति को चित॥
रानी तपती गर्भ तैं, भये पुत्र कुरु जग-विदित।
कुल कौरव के नाम तैं, भयो पुत्र तिनि परीक्षित॥

महाराज उपरिचर वसु की कथा

[७८२]

सुहोत्रोऽभूत्सुधनुषश्च्यवनोऽथ ततः कृती ।
वसुस्तस्योपरिचरो बृहद्रथमुखास्ततः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० २२ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

सुधनु जह्नु निषधाश्व तीन सुत औरहु तिनके।
रहे प्रथम सुतहीन सुहोत्रहु भये सुधनु के॥
च्यवन सुहोत्र कुमार च्यवन के कृती भये सुत।
कृती पुत्र वसु नृपति उपरिचर अष्ट सिद्धि-युत॥
सुर-ऋषि-वाद-विवाद महँ, पक्षपात नृप ने कियो।
क्रुद्ध भये ऋषि भूप कूँ, पतन शाप मिलि कैं दियो॥

संसार मे श्रीमन्नारायण की ही भक्ति सार है। नारायण नाम ही भवभय-बन्धन को छिन्न-भिन्न करने में समर्थ है। नारायण ही परम तत्त्व है। जैसे वायु रोगों को नारायण तैल नष्ट कर देता है, जैसे उदर विकारो के लिये नारायण चूर्ण ही परमौ-

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! कुरु-पुत्र सुधनु से सुहोत्र हुए। सुहोत्र के पुत्र च्यवन, उनके कृती और कृती के ही महाराज उपरिचर बसु हुए। उनके बृहद्रथ आदि कई पुत्र हुए।"

पथि है, उसी प्रकार संसार सागर से पार उतरने के लिये नारायण-नाम की नौका ही सब प्रकार समर्थ है। जो सभी प्राणियों में अपने स्वामी नारायण को ही देखता है, जो जीवमात्र पर दया करता है, किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता, उसे ही श्रीमन्नारायण के दर्शन होते हैं। यदि किसी कारण से अधःपात भी हो जाय, तो नारायण का नाम लेने से पुनः उत्थान हो जाता है। नारायण की शरण मे जाने से सभी अशुभ नष्ट हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कुरु-कुल मे महाराज कृती के पुत्र उपरिचर वसु बड़े ही धर्मात्मा और भगवद्भक्त हो चुके हैं। इन्होंने भगवान् बृहस्पतिजी को अपना पुरोहित बनाया। ये बड़े अहिंसक थे। अश्वमेध यज्ञ मे भी इन्होंने पशु की हिंसा नहीं की। अङ्गिरा-पुत्र भगवान् बृहस्पति से इन्होंने पूछा—"ब्रह्मन्! फल-फूल तथा अन्य सामग्रियों से महायज्ञ हो सकते हैं या नहीं?"

बृहस्पतिजी ने कहा—"हो क्यों नहीं सकते? यज्ञ मे पशु-हिंसा हो ही, यह आवश्यक नहीं।"

तब राजा ने कहा—"प्रभो! मुझसे ऐसा ही यज्ञ कराइये, जिसमें पशु-बलि न देनी पड़े।"

यह सुनकर बृहस्पतिजी ने यज्ञ की समस्त सामग्रियों की सूची बना दी। राजा ने तुरन्त वे सब वस्तुएँ एकत्रित कर दीं। यज्ञ आरम्भ हुआ। इसमें बृहस्पतिजी होता थे। प्रजापति पुत्र एकत, द्वित और त्रित उस यज्ञ के सदस्य थे। धनुपाख्य, रैभ्य, अर्वावसु, परावसु, मेधातिथि, ताण्ड्य, शान्ति, वेदशिरा, कपिल, आद्य, कठ, तैत्तिर, कण्व और देवहोत्र—ये सोलह सुप्रसिद्ध महर्षि भी उस यज्ञ में दीक्षित थे। उस यज्ञ की यही विशेपता थी कि

उसमे पशु हिंसा नहीं हुई थी। फल फूल, अकुर और बीजों से ही भगवान विष्णु की आराधना की गई थी।

महाराज उपरिचर को प्रेमी भक्ति से रमारमण श्रीमन्नारायण प्रसन्न हुए। उन्होंने राजा को प्रत्यक्ष दर्शन देकर यज्ञीय पुरोडास को स्वय ग्रहण किया। उन्होंने अन्य किसी को दशन नहीं दिय। अदृय रूप स ही उन्हाने हविर्भाग का स्वीकार किया।

बृहस्पति ने क्रुद्ध होकर कहा—"मै कब से देवताओ को यज्ञ भाग देने को बुला रहा हूँ, देवता मेरे सम्मुख प्रत्यक्ष क्यों नहीं होते ?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! भगवान विष्णु ने आपके दिय हुए हविर्भाग को ग्रहण कर लिया।"

बृहस्पतिजी ने कहा—"मैं ऐसे मानने वाला नहीं! मैंने देव ताओ के निमित्त इस पुरोडास को तैयार किया है। या तो देवताओं को प्रकट होकर इसे लेना चाहिये, या विष्णु भगवान् को सबके सम्मुख स्वय इसे ग्रहण करना चाहिये। अदृश्य रूप से भगवान् ने इसे ग्रहण क्यो किया ?" ऐसा कह कर बृहस्पति जी ने स्रुवा को ऊपर उछाल दिया।

तब राजा ने अत्यन्त ही मधुर स्वर मे बृहस्पतिजी को समझाते हुए कहा—"ब्रह्मन्! आप यह नई बात क्यों कर रहे हैं ? सत्ययुग में तो कोई क्रोध करता नहीं। यह तो अन्य युगों के भाव हैं। ब्रह्मन्! आप क्रोध करके देवाधिदेव को प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, वे स्वय जितक्रोध हैं। उन्हे तो क्रोधरहित पुरुष प्रेम से ही प्राप्त कर सकते हैं।"

राजा की इस बात का समर्थन करते हुए महर्षि एकत, द्वित और त्रित ने आपबीती एक घटना सुनाई। वे बोले—"हमारी भी एक बार भगवान् के दर्शनों की बलवती इच्छा हुई। तब हमें

आकाशवाणी सुनाई दी—"मुनियो! आप क्षीरसागर के उत्तर में महाप्रभावान श्वेत द्वीप में जायँ वहाँ मेरा प्रत्यक्ष स्वरूप विद्यमान् है। उस लोक में नारायण-परायण, चन्द्रवत् कान्ति वाले, परम ऐकान्तिक भगवद्भक्त निवास करते हैं। वे इन्द्रियरहित, निराहारी, अपलक तथा दिव्य गन्धयुक्त हैं।"

यह आकाशवाणी सुनकर हम सब श्वेत द्वीप में गये। वहाँ इतना तेज था कि हम सबके सब अन्धे हो गये, हमारी आँखें चौंधिया गयीं। वहाँ जाकर भी हम श्रीमन्नारायण के दर्शन न कर सके। अपने को तप रहित समझकर हम घोर तप करने लगे। जब हम सौ वर्षों तक उस लोक में रहकर तप करते रहे, तब हमें उस लोक के रहने वाले भगवद्भक्त महापुरुषों के दर्शन हुए। वे सब चन्द्रमा के समान श्वेत तथा भगवत्परायण थे। सहसा एक दिन वहाँ के सभी भगवद्भक्त बड़ी उत्कण्ठा से दौड़े, अनेक पूजा की सामग्रियाँ लाये और हाथ जोड़कर सभी कहने लगे—"हे पुण्डरीकाक्ष! हे विश्वोत्पादक! हे हृषीकेश! हे जनार्दन! हे नारायण! आपकी जय हो, जय हो।" उनकी स्तुति, पूजा, चेष्टा और मुखाकृति देखकर हम तो यह समझ गये, कि यहाँ भगवान् पधारे हैं, किन्तु हमें उनके दर्शन नहीं हुए। उस द्वीप के रहने वाले अन्य लोग तो उनके प्रत्यक्ष दर्शन कर ही रहे थे। कुछ काल में पूजा समाप्त हुई, किन्तु वहाँ के लोग हमसे बोले तक नहीं। तब हम पुनः घोर तप करने लगे। तप करते-करते हम कृश हो गये। तब हमें पुनः आकाशवाणी सुनाई दी—"जो लोग भगवद्भक्तों के भक्त नहीं, उन्हें मेरे दर्शन दुर्लभ हैं। अभी तुम लोगों को इस लोक में रहने का अधिकार नहीं। अभी तुम्हें पृथ्वी पर रहकर बहुत कार्य करना है, बहुत जीवों को भगवान् की ओर लगाना है। तुम लोगों को यहाँ के महापुरुषों के

दर्शन हो गये, यही बहुत है। इनमें भक्ति करो। फिर जब तुम पुनः इस लोक में आओगे, तुम्हें मेरे दर्शन होंगे। तुम जिस मार्ग से आये हो, उसी मार्ग से लौट जाओ।"

एकत मुनि कह रहे हैं—"बृहस्पतिजी ! यह आदेश सुनकर हम सब लौट आये। देखिये, हमने तप किया था, फिर भी हमें श्वेत द्वीप में जाने पर भी भगवान् के दर्शन नहीं हुए। भगवान् हव्य-कव्य के भूखे तो हैं नहीं। उनके दर्शन उन्हीं की कृपा से होते हैं। वे साधन-साध्य नहीं, कृपा-साध्य है, अतः आप क्रोध न करें। भगवान् की जब कृपा होगी, तब आपको उनके दर्शन हो जायँगे।"

जब एकत मुनि ने ये बातें कहीं और द्वित-त्रित ने उनका अनुमोदन किया, तब बृहस्पतिजी ने क्रोध का परित्याग कर दिया। उन्होंने भगवद्भक्त महाराज उपरिचर वसु के यज्ञ को विधिवत् समाप्त किया। महाराज के ऊपर भगवान् प्रसन्न हुए। कालान्तर में वे स्वर्ग-गामी हुए और पुनः ऋषियों के शाप से पृथ्वी पर आये।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इतने बडे भगवद्-भक्त राजा का पतन क्यों हुआ ? ऋषियों का महाराज उपरिचर वसु ने क्या अपराध किया था ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! कौन किसका अपराध करता है ? सब भगवान् ही क्रीडा कर रहे हैं। वे जब जिससे जो काम कराना चाहते हैं, तब उसकी वैसी ही मति बना देते हैं। भगवद्-भक्तों को भगवान की स्मृति बनी रहे, मुख से उनका नाम उच्चारण होता रहे, फिर उनके लिये स्वर्ग, नरक, पृथ्वी तथा अन्यान्य ऊँच नीच सभी लोक समान हैं। उनकी भेद-बुद्धि नष्ट हो जाती है। महाराज उपरिचर भगवद्भक्त थे, किन्तु पक्षपातपूर्ण वचन

बोलने के कारण उनका स्वर्ग से पतन हुआ। यह प्रसंग मैं आपको सुनाता हूँ।"

एक बार देवताओं ने ऋषियों से कहा– "हे ऋषियो! तुम लोग यज्ञ में अज का हवन करना। अन्य पशु का हवन मत करना।"

ऋषियों ने पूछा—"अज का क्या अर्थ है ?"

देवताओं ने कहा—"अज का अर्थ है बकरा।"

ऋषियों ने कहा—"पशु को मारकर उसका हवन करना यह सत्पुरुषों का काम नहीं, श्रुति की आज्ञा तो बीजों-धान्य आदि के पुरोडास बनाकर विधिपूर्वक हवन करने की है। उस परिपक्व बीज का ही नाम अज है।"

देवताओं ने कहा—"नहीं, अज का अर्थ है बकरा। यज्ञ में बकरे की बलि देनी चाहिये।"

इस प्रकार देवता और ऋषियों में वाद-विवाद हो रहा था, कि वहाँ धर्मात्मा महाराज उपरिचर आ पहुँचे। वे अपने तप के प्रभाव से आकाश में विमान पर विचरते थे। देवताओं और ऋषियों ने कहा—"ये महाराज उपरिचर धर्मात्मा हैं, ये कभी असत्य भाषण न करेंगे। इनको ही इस वाद-विवाद में पंच मान लो।"

दोनों ने राजा को पंच मान लिया। दोनों की बात सुनकर राजा ने देवताओं का पक्षपात किया और कह दिया—"यज्ञ में बकरे का ही हवन करना चाहिये।"

इतना सुनते ही तेजस्वी ऋषियों को क्रोध आ गया। उन्होंने उन्हें शाप दिया—"राजन्! तुमने पक्षपात में मुँहदेखी बात कह दी है, अतः आज से तुम्हारी अन्तरिक्ष में भ्रमण करने की शक्ति नष्ट हो जायगी। तुम स्वर्ग से च्युत होकर पृथ्वी के विवर में वास करने लगोगे।"

ऋषियों का शाप होते ही राजा स्वर्ग भ्रष्ट होकर पृथ्वी की दरार में घुसकर रहने लगे, किन्तु उन्हें अपने पूर्वजन्म की स्मृति बनी रही। देवताओं ने देखा, हमारा पक्ष लेने से राजा पर विपत्ति आई है, इसलिये उन्होंने जाकर राजा से कहा—"राजन्! आप चिन्ता न करें। श्रीमन्नारायण मंगल ही करेंगे। शाप देने पर भी आप ब्राह्मणों से कभी द्वेष न करें। यज्ञों में हम आपको पूर्णाहुति के समय वसुधारा दिया करेंगे। उसे ही पीकर आप सन्तुष्ट रहें।" ऐसा वर देकर देवता भी चले गये। अब राजा वसु पृथ्वी के विवर में रहकर देवताओं की बताई यज्ञीय वसुधारा को पीकर काल-यापन करने लगे।

अब राजा भगवान् की आराधना में लग गये, क्योंकि वे जानते थे कि हरिस्मृति ही सम्पूर्ण विपत्तियों को नष्ट करने वाली है। श्रीमन्नारायण का स्मरण-कीर्तन ही समस्त शाप-सवापों को स्वाहा करने में समर्थ है। ऐसा सोचकर वे निरन्तर नारायण मंत्र का जप करने लगे। वे भगवान् का पूजन नित्य नियम से करते। नारायण नाम का कीर्तन, नारायण मन्त्र का जप और श्रीमन्नारायण की पूजा-अर्चा में ही वे अपना समय बिताते थे। साथ ही वे ब्राह्मणों का सत्कार करते। उनकी ब्राह्मणों में कभी भी द्वेष-बुद्धि नहीं हुई। इससे श्रीमन्नारायण परम सन्तुष्ट हुए। उन्होंने गरुडजी को आज्ञा दी, राजा को पुनः उपरिचर कर दो, उनकी अन्तरिक्ष में भ्रमण करने की शक्ति पुनः ज्यों-की-त्यों बना दो।"

यह सुनकर गरुडजी तुरन्त पृथ्वी के विवर में गये और राजा को उडाकर उसे आकाश में छोड़ दिया। तबसे वे पुनः उपरिचर हो गये, पूर्ववत् आकाश में भ्रमण करने लगे। वे सशरीर ब्रह्म-लोक को गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवद्भक्ति का ऐसा ही प्रभाव है। महाराज उपरिचर देवताओं का पक्षपात करने से, वाणी के दोष से दूषित होने पर भी, ब्राह्मणों के शाप देने पर भी, श्रीमन्नारायण की भक्ति करने से, पुनः सशरीर ब्रह्मलोक को गये। मुनियो ! यह मैंने महाराज उपरिचर वसु की संक्षेप में कथा कही। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"महाभाग सूतजी ! अब हमें आप कौरव-वंश के आगे के मुख्य-मुख्य राजाओं के चरित सुनाइये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज ! अब आप कौरव-वंश के अग्रिम राजाओं का वृत्तान्त श्रवण करें।"

छप्पय

स्वर्गच्युत ह्वै भूमि-विवर महँ बसहिँ उपरिचर।
नारायण को मन्त्र जपैं पूजा महँ तत्पर॥
नारायण को नाम निरन्तर नित-नित गावैं।
नारायण को ध्यान करैं तन्मय ह्वै जावैं॥
नारायण आज्ञा दई, गरुड़ शाप मोचन कर्यो।
नारायण ने नृपति को, ताप-शाप सबई हर्यो॥

चेदि राजाओं की कथा

(७८३)

अन्यस्यां चापि भार्यायां सकले द्वे बृहद्रथात् ।
ते मात्रा बहिरुत्सृष्टे जरया चाभिसन्धिते ॥
जीव जीवेति क्रीडन्त्या जरासन्धोऽभवत्सुतः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० २२ अ० ७, ८ श्लोक)

छप्पय

वसु के चेदि नरेश बृहद्रथ तिनि कुशाग्र सुत ।
तिनि के सुत नृप ऋषभ ऋषभ के पुत्र सत्यहित ॥
नृपति बृहद्रथ अपर नारि द्वै भाग देह के ।
जने मृतक लखि तुरत फिँकाये निकट गेह के ॥
जरा नाम की राक्षसी, भाग उभय जोरे जबहिँ ।
जीव-जीव कहिवे लगी, उठि रोयो सो शिशु तबहिँ ॥

भगवान् के विधान को जीव समझ ही नहीं सकता । यदि

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! बृहद्रथ की दूसरी रानी से शरीर के दो टुकड़े उत्पन्न हुए । माता ने उन दोनों टुकड़ों को बाहर दिया । जरा नाम की राक्षसी ने उन टुकड़ों को क्रीड़ा करते समय 'व-जीव" कहकर जोड़कर जिला दिया । वही बालक जरासन्ध ।"

उसे समझ ले, तो फिर उसकी जीव-संज्ञा ही न रहे, वह शिवरूप हो जाय। जिस वस्तु को हम व्यर्थ समझकर फेंक देते है, कालान्तर में वही अमूल्य हो जाती है, जिसे बहुमूल्य समझकर बड़ी सावधानी से रखते हैं, समय पर वह दो कौड़ी की भी नहीं सिद्ध होती। विधि के विधान से मृतक जीवित हो जाते हैं, भगवान् की इच्छा से ही जीवित प्राणी पल भर में मृतक बन जाता है। इस लिये दैव-बल ही यथार्थ बल है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आप से कौरव-वंश के अग्रिम राजाओं का वृत्तान्त कहता हूँ। महाराज उपरिचर वसु के वृहद्रथ, कुशाम्ब, मत्स्य और प्रत्यग्र—ये चार पुत्र हुए। ये सब चेदिप कहलाये। इनमे वृहद्रथ सबसे बड़े थे। उनके पुत्र कुशाग्र हुए। कुशाग्र के ऋषभ, उनके सत्यहित, सत्यहित के पुत्र पुष्पवान् और पुष्पवान के जह्नु हुए।

वृहद्रथ के एक और पुत्र हुआ, जिसका नाम जरासंध था। वह दो भागों में पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुआ था।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा· "सूतजी! जरासन्ध दो भागों में पृथक्-पृथक् कैसे पैदा हुआ और फिर वह जीवित कैसे हुआ? यह तो बड़े आश्चर्य की बात है। इसके इतिहास को कृपा करके आप हमें सुनावें।"

सूतजी बोले—"महाराज! यह बड़ा ही अद्भुत इतिहास है। सुनिये, मैं यह कथा आप को सुनाता हूँ। मगध देश के महाराज वृहद्रथ बड़े ही धर्मात्मा तथा न्याय प्रिय थे। इनका विवाह काशिराज की दो कन्याओं के साथ हुआ। वे दोनों कन्यायें यमज थीं। वे अत्यन्त ही सुन्दरी और सर्वगुण-सम्पन्न थीं। उन दोनों में परस्पर बड़ा प्रेम था। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे ऐसे ही राजकुमार के साथ विवाह करेंगी, जो उनमें किसी

प्रकार का पक्षपात न करे। दोनों को समान भाव से प्यार करे। महाराज वृहद्रथ ने प्रतिज्ञा की—"मैं तुम दोनो के साथ समान व्यवहार करूँगा, किसी प्रकार का पक्षपात न करूँगा।" यह सुनकर वे दोना बडी प्रसन्न हुई। काशिराज ने दोनो का विवाह वृहद्रथ के साथ कर दिया। राजा अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते हुए दोनो के साथ समान व्यवहार करने लगे। दोना रानिया के साथ रहते रहते राजा को बहुत दिन हो गये, किन्तु उनके कोई सन्तान नहीं हुई। इससे राजा रानी सदा दुःखी और चिन्तित बने रहते। वृद्धावस्था भी राजा की ओर बढने लगी।

एक दिन काक्षीवान् गौतम ऋषि के पुत्र परम तपस्वी महर्षि चण्ड कौशिक घूमते घामते मगध देश मे आये। वे नगर से दूर एक सघन आम्र वृक्ष के नीचे टिके। बहुत से लोग मुनि के दर्शनो को आने लगे, जब महाराज वृहद्रथ ने मुनि का आगमन सुना तब वे भी अपने मन्त्री, पुरोहित तथा रानियो सहित मुनि के दर्शनो को आये। आषाढ का महीना था। सघन वृक्ष के नीचे दर्शकों से घिरे मुनि मूर्तिमान तप के समान ही दिखाई देते थे। राजा ने मुनि के चरणों मे विधिवत् प्रणाम किया। फिर लजाते हुए कण्ठ मे अञ्चल डालकर रानियों ने भी मुनि के पैर पकडे। रानियों-सहित राजा ने मुनि की षोडशोपचार पूजा की। मुनि ने शास्त्रीय विधि से राजा की पूजा स्वीकार की। पूजा के अनन्तर बडे करुण स्वर मे राजा ने महर्षि की स्तुति की। पूजा और स्तुति से प्रसन्न होकर महर्षि ने कहा—"राजन्! मैं तुम्हारी पूजा स्तुति से अत्यत ही सन्तुष्ट हूँ आप मुझसे कोई वर माँगें ?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं वर लेकर क्या करूँगा ? मेरे पिता स्वर्ग में रो रहे हैं। मैं रानियों सहित यहाँ रो रहा हूँ।

देखिये, ये मेरे बाल पकने लगे, मैं तो अब वन की तैयारियाँ कर रहा हूँ।"

सर्वज्ञ मुनि राजा की अन्तर्वेदना समझ गये। वे ध्यान मग्न हो गये उसी समय एक बड़ा ही सुन्दर आम का फल मुनि की गोद में गिर पड़ा। उस फल को लेकर मुनि बोले—"राजन्! आप इस फल को अपनी महिषी को दें। इससे आपके सन्तान होगी।"

फल पाकर राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने घर आकर नियमानुसार फल के दो भाग करके अपनी दोनों रानियों को दे दिये। फल को खाते ही दोनों गर्भवती हो गईं। इससे राजा को तथा उनकी समस्त प्रजा को बड़ा ही हर्ष हुआ। समय पाकर दोनों ने ही प्रसव किया। दोनों के ही उदर से एक देह के आधे-आधे भाग उत्पन्न हुए। एक हाथ, एक पैर, एक आँख, एक कान—सारांश यह कि बीच से आधे-आधे अङ्ग दोनों के पेट से पैदा हुए। ऐसे पुत्र को लेकर वे क्या करतीं! अतः उन दोनों ने धाई से कहा—"इन दोनों अङ्गों को तुम महलों के पीछे फेंक आओ।"

धाई उन्हें एक पात्र में लेकर एक शून्य स्थान में रख आई उसी समय जरा नाम की राक्षसी वहाँ आ गयी। उसने ध्यान से देखा कि वे दोनों फाँकें जीवित-सी हैं। उसने दोनों को लेकर एक में जोड़ दिया और खेल-खेल में कहने लगी—"जीवित हो जा जीवित हो जा।

राक्षसी को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे दोनों फाँकें एक में सट गयीं, परस्पर मिल गयीं। उनसे बड़ा ही सुन्दर एक शिशु बन गया! वह रोने लगा। जरा एक सुन्दरी स्त्री का वेश बना कर उस बच्चे को लेकर राज महल में गयी और बोली—रानी!

देखो, तुमने तो इस पुत्र को मृतक समझकर फेंक ही दिया था, किन्तु देव ने इसकी रक्षा की। आपने दीवाल पर चित्र बनाकर मेरा पूजन किया था, उसी के बदले मैंने तुम्हारा यह उपकार किया।"

पुत्र को देखकर राजा रानी परम हर्षित हुए उन्होंने ब्राह्मणों को विविध दान दिये, याचक, अभ्यागत तथा आश्रितों की मनो कामनाएँ पूर्ण कीं। राजा ने जरा राक्षसी द्वारा सन्धित होने से उसका नाम जरासन्ध रखा। तभी से राजा ने मगध देश में घर घर उस राक्षसी की पूजा आरम्भ करा दी।

यह जरासन्ध बड़ा ही शूरवीर, मानी तथा बली था। इसने पृथ्वी के समस्त राजाओं को जीत लिया था। जब महाराज वानप्रस्थाश्रम धारण करके रानियों-सहित वन को चले गये, तब जरासन्ध ही मगध देश का राजा हुआ। दीपक की लौ के समीप आकर जैसे पतंगे जल जाते हैं, वैसे ही शत्रु इसके सामने आते ही श्री हीन हो जाते थे। उस समय भूमण्डल पर इसके समान दूसरा कोई बली नहीं था। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी पर भी इसने अठारह बार चढ़ाई की। अन्त में श्रीकृष्ण अपने वंश वालों के सहित इसके भय से भागकर द्वारका में जाकर रहे। इसका वध भगवान् ने भीम से कराया। इस प्रसङ्ग का वर्णन आगे करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! चेदिराज बृहद्रथ के पुत्र जरा सन्ध का सुत सहदेव हुआ। यह भी बड़ा बली था। अब आगे के राजाओं का वंश-वर्णन सुनो।"

छप्पय

जरासन्ध अति बली भयो नृप सेवें पदरज।
जातें डरि रणछोड़ द्वारका भगे त्यागि व्रज॥
तासु पुत्र सहदेव भये सोमापि तासु सुत।
श्रुतश्रवा तिनि तनय चेदि कुल भूषण रणजित॥
कुरु सुत तीसर जह्नु के, पौत्र विदूरथ ह्वै गये।
तिनि की नवमीं पीढ़ि महँ, नृप प्रतीप भूपति भये॥

महाराज शन्तनु की कथा

[७८४]

अभवच्छन्तनू राजा प्राङ्महाभिषसंज्ञितः ।
यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णंयौवनमेति सः ॥
शान्तिमाप्नोति चैवाग्र्यां कर्मणा तेन शन्तनुः ।
समा द्वादश तद्राज्ये न ववर्ष यदा विभुः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २२ अ० १३-१४ श्लो०)

छप्पय

नृप प्रतीपके तीनि तनय देवापि बड़े सुत ।
गये राज तजि नृपति भये शन्तनु शोभायुत ॥
परसैं कर तैं जाहि शान्ति पावै सो प्रानी ।
जानि अग्रमुक् इन्द्र नहीं बरसायो पानी ॥
भेजि सचिव षड्यन्त्र करि, वेद-भ्रष्ट अग्रज करचो ।
तब सुरपति बरपा करी, यों नृप सबको दुख हरचो ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! प्रतीप के बड़े पुत्र देवापि के
न जाने पर छोटे शन्तनु राजा हुए । वे पूर्वजन्म मे महाभिष नाम वाले
राजा थे । वे अपने हाथ से जिस-जिस को स्पर्श कर देते थे, वह वृद्ध होने
र भी युवा हो जाता था तथा उसे परम शान्ति प्राप्त होती थी । इसी
र्म के कारण वे 'शन्तनु' कहलाते थे । एक बार बारह वर्ष उनके राज्य
इन्द्र ने वर्षा नहीं की ।"

बड़ों के प्रति सम्मान प्रकट करना आर्य-संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ सदाचार है। बड़ों के सम्मुख उच्चासन पर न बैठना, बड़ों के सम्मुख अभिमानपूर्वक न बैठना, बड़ों से शिष्टाचार-रहित व्यवहार न करना, बड़ों के रहते स्वयं सम्मान को ग्रहण न करना, ऐसी प्राचीन परिपाटी है। बड़े भाई के संस्कार जब तक न हुए हों, तब तक छोटे भाई को संस्कार कराने का विधान नहीं है। बड़े भाई का विवाह या अग्निहोत्र-सम्बन्ध न हुआ हो और छोटा अपने संस्कार करा लेता है, तो शास्त्रकारों ने उसकी 'परिवेत्ता' संज्ञा बताई है और उस बड़े भाई को 'परिवित्ति' कहा है। बड़े भाई के रहते, छोटे भाई को पिता के राज-सिंहासन पर बैठने का अधिकार नहीं है। यदि बड़ा भाई अयोग्य हो, महाव्याधि-ग्रस्त हो, या सदाचार-हीन हो, तब छोटे के राजा होने में कोई दोष नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने चेदिराज महाराज बृहद्रथ के पुत्र जरासन्ध के जन्म की कथा कही। अब उसके आगे के वंश को सुनें। जरासन्ध के सुत सहदेव हुए, उनसे सोमापि और सोमापि से श्रुतश्रवा का जन्म हुआ। यह मैंने संक्षेप में चेदि-वंशीय राजाओं की वंशावली बताई। अब कुरुवंशीय अन्य राजाओं का वंश विस्तार श्रवण करें।

मैं पहले ही बता चुका हूँ, कि तप्ती-पुत्र महाराज कुरु के परीक्षित, सुधनु, जह्नु, और निषधाश्व—ये चार पुत्र हुए। उनमें से सुधनु के वंश का तो वर्णन मैंने कर दिया। अब शेष तीन का वर्णन सुनिये। कुरु के प्रथम पुत्र परीक्षित सन्तान हीन थे। उनका वंश चला ही नहीं। अब जह्नु के वंश को सुनें।

महाराज जह्नु के पुत्र सुरथ हुए। उनके सुत विदूरथ हुए। विदूरथ के सार्वभौम, उनके जयसेन, जयसेन के राधिक और

उनके अयुत पुत्र हुए। अयुत के क्रोधन, क्रोधन के देवातिथि, उनके ऋष्य, ऋष्य के दिलीप और दिलीप के प्रतीप हुए। महाराज प्रतीप के तीन पुत्र हुए, जिनके नाम देवापि, शन्तनु और वाल्हीक थे। इनमें से मँझले शन्तनु ही राजा हुए। इनका विवाह गगाजी के साथ हुआ।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज प्रतीप ने बड़े पुत्र देवापि को राज्य न देकर शन्तनु को राजा क्यों बनाया? फिर शन्तनु तो मनुष्य थे, उनके साथ गगाजी का विवाह क्यों हुआ? कृपा करके इस कथा को आप हमें सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! मैं पुण्यश्लोक महाराज शन्तनु का चरित आपको सुनाता हूँ। आप समाहित चित्त से उसे श्रवण करें। पूर्वकाल मे ये महाराज महाभिप थे। ब्रह्माजी के शाप से ब्रह्मलोक से च्युत होकर चन्द्रवशी महाराज प्रतीप के यहाँ पुत्र होकर प्रकट हुए।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप कथा मे से कथा का बीज निकाल देते है। आप हमे प्रतीप पुत्र शन्तनु का चरित तो पीछे सुनावें। पहले इसी बात को सुनावें, कि महाराज महाभिप को कमलयोनि ब्रह्माजी ने शाप क्यों दिया? वे ब्रह्मलोक से किस अपराध से च्युत हुए?"

इस पर सूतजी ने कहा—"भगवन्! पूर्वकाल मे इक्ष्वाकुवश में परम धर्मात्मा महाराज महाभिप नाम के एक बड़े ही तेजस्वी, तपस्वी तथा यशस्वी राजा हो गये हैं। उन्होंने बड़ी बड़ी दक्षिणा वाले बहुत से यज्ञ किये, भाँति भाँति के पुण्य कर्म किये, सुयोग्य पात्रों को विविध प्रकार के दान दिये। अन्त मे इस पाच भौतिक शरीर को त्यागकर वे अपने पुण्य कर्मों के प्रभाव से ब्रह्मलोक गये। वहाँ जाकर ब्रह्मलोक के सुखों को भोगते रहे। एक दिन

ब्रह्माजी की सभा लगी हुई थी। उसमें बडे बड़े ब्रह्मर्षि, देवता, सिद्ध, चारण, गन्धर्व तथा अन्य सुकृतिजन विराजमान थे। उसी समय भगवती गंगादेवी एक अत्यत सुन्दरी नारी का रूप बनाकर ब्रह्माजी की सभा में आई। वायु ने उनको अत्यन्त पतला रेशमी वस्त्र उडा दिया, जिससे उनका वक्षस्थल खुल गया। उसे देखकर सभी ऋषि-मुनियों तथा देवताओं ने अपना अपना सिर झुका लिया, किन्तु महाराज महाभिष गङ्गाजी की ओर टकटकी लगाये अपलक भाव से देखते ही रहे। उनकी इस अविनय के कारण कमलयोनि भगवान् ब्रह्मा क्रुद्ध हुए। त्रिकालदर्शी भगवान् वेदगर्भ राजा के मन के भाव को समझ गये। उन्होंने राजा से कहा— "राजन्! इस पवित्र लोक मे भी आपके मन मे काम के भाव उत्पन्न हो गये हैं? अतः अब आपका इस लोक से पृथ्वी पर पतन हो जायगा। मनुष्य जेसा सकल्प करता है, वेसी ही योनि उसे प्राप्त होती हे। नारी पर आसक्त होना नर का काम है। अतः आपको नर-योनि में जन्म लेना पड़ेगा। जिस गगा पर आप आसक्त हो गये हैं, वही स्त्री-रूप रखकर आपकी पत्नी होगी और कुछ दिन साथ रहकर अन्त मे वह आपको छोडकर चली आवेगी। तब फिर आप पुनः स्वर्ग मे लौट आइयेगा।"

भगवान् ब्रह्मा के मुख से ऐसा शाप सुनकर, महाराज को विशेष दुःख नहीं हुआ, क्योंकि वे गगा के रूप पर अत्यन्त ही आसक्त थे। अब उन्हें पृथ्वी पर उत्पन्न होना था। उन दिनों महाराज प्रतीप ही इस पृथ्वी-तल पर परम धार्मिक, महान तेजस्वी तथा सबसे अधिक यशस्वी थे। अतः उनके ही यहाँ महाभिष ने जन्म लिया। ये ही शान्तनु के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनमें यह विशेषता थी, कि जिसे भी ये अपने हाथ से छू लेते, वह कितना भी वृद्ध क्यों न हो, युवक बन जाता था और उसे

परम शान्ति की प्राप्ति होती थी। इस कारण इनका नाम शन्तनु पड़ा। इनके बड़े भाई देवापि बड़े वैरागी थे, जब इनके पिता राजसिंहासन पर विराजमान होकर राज्य करते थे। तभी इनके बड़े भाई राजपाट छोड़कर वैराग्य के आवेश में वन चले गये और वहाँ घोर तप करने लगे। कालान्तर में महाराज प्रतीप अपने शरीर में वृद्धावस्था को आते देख राजपाट शन्तनु को सौंपकर तपस्या करने वन चले गये। महाराज शन्तनु धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करने लगे। महाराज बड़े मृगया प्रेमी थे। वे आखेट के निमित्त गंगाजी के किनारे, कछार में, खादरों में, वनों तथा उपवनों में घूमा करते।

एक दिन महाराज गंगा किनारे मृगया के निमित्त गये। जंगली जीवों का पीछा करते करते वे थक कर एक सुन्दर-सघन वृक्ष की छाया में सुखपूर्वक गंगा तट से कुछ दूर जा बैठे। उसी समय उन्हें एक अत्यन्त ही रूप लावण्य युक्त ललना दिखाई दी। वह अपने सौन्दर्य तथा कान्ति के आलोक से सम्पूर्ण वन्य प्रान्त को आलोकित कर रही थी। जब वह प्रकृति के सौंदर्य को देखकर हँसती, तब ऐसा प्रतीत होता, मानो उसके मुख से कुंद के पुष्प झड़ रहे हों। वह गङ्गा की लहरों के ऊपर निर्भय होकर आ रही थी। समीप के उपवन में वह चारुहासिनी विलास के सहित क्रीड़ा करने लगी। उसके शरीर का वर्ण गौर था, पदतल, करतल, ओष्ठ, अधर, जिह्वा, और नख अरुण वर्ण के थे। कमल के समान विकसित बड़े-बड़े उसके नेत्र थे। ऐंडी तक उसकी वेणी लटक रही थी। वह एक अत्यन्त ही सुन्दर नील वर्ण की महीन रेशमी साड़ी पहने हुई थी। उसके अङ्ग से सौन्दर्य छन-छन कर उस तट प्रदेश में निखर रहा था। हंसिनी के समान रुनझुन-रुनझुन करती हुई, पैरों के नूपुरों को बजाती, विलास के साथ,

मन्द-मन्द गति से, वह चल रही थी। शनैः-शनैः आकर वह राजा के समीप खड़ी हो गई।

राजा शन्तनु ने आज तक ऐसी सुन्दरी स्त्री कभी देखी ही नहीं थी। वे उसके रूप, यौवन तथा अङ्ग-सौष्ठव को देखकर मन्त्र-मुग्ध की भाँति एकटक उसकी ओर देखते-के-देखते रह गये। राजा प्रयत्नपूर्वक अपनी दृष्टि उधर से हटाना चाहते थे, किन्तु इसमें वे सफल न हुए। उसे देखते-देखते उनकी तृप्ति नहीं होती थी। वह भी विना कुछ बोले-चाले चुपचाप राजा के रूपासव का प्रेमपूर्वक पान कर रही थी।

कुछ काल के अनन्तर राजा ने कहा—"—हे भामिनी! तुमने अपने दर्शनों से ही मुझे वश में कर लिया है। मैं तुम्हारी कृपा चाहता हूँ। तुम मेरे ऊपर अनुग्रह करो, मेरी धर्मपत्नी बनकर मेरे साथ सुखोपभोग करो। मैं इस पृथ्वी का राजा हूँ। शन्तनु मेरा नाम है। मेरा राजपाट तुम्हारे ही अधीन है।"

उस स्त्री ने राजा की बात सुनकर कहा—"राजन्! आपको अपना पति बनाने में मैं अपना सौभाग्य समझती हूँ। किन्तु मेरा एक नियम है। उस नियम का पालन करने की आप प्रतिज्ञा करें, तो मैं आपकी धर्मपत्नी बन सकती हूँ।"

राजा ने अत्यन्त ही उत्सुकता के साथ कहा—"हे वर वर्णिनि! सुन्दरि! तुम अपना नियम बताओ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, तुम जो भी कुछ कहोगी, उसे मैं स्वीकार करूँगा जिस बात में तुम्हारी प्रसन्नता होगी, उसे प्राणों का पण लगाकर भी मैं पूरा करूँगा।"

यह सुनकर उस स्त्री ने कहा—"राजन्! मैं जो भी उचित-अनुचित करूँ, उसमें आप हस्तक्षेप न करें, न मुझे कभी कोई कड़ी बात ही कहें। यदि आपने मेरे किसी काम में हस्तक्षेप किया,

या मुझे बुरा भला कहा, तो निश्चय ही मैं आपको छोड़कर चली जाऊँगी।"

राजा ने उस सर्वाङ्ग-सुन्दरी नारी की यह बात सहर्ष स्वीकार कर ली। धर्म को साक्षी देकर उन्होंने प्रतिज्ञा की। उसके साथ धर्मपूर्वक विवाह करके वे सुखपूर्वक उसके साथ सासारिक सुखों का उपभोग करने लगे।

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी। महाराज शन्तनु तो उच्च वंशावतंस धर्मात्मा और नीतिनिपुण थे। उन्होंने एक अज्ञात-कुल शीला स्त्री के साथ, बिना उसके नाम-गोत्र तथा वंश का परिचय पाये, सहसा विवाह क्या कर लिया? और फिर ऐसी कठिन प्रतिज्ञा में क्यों बँध गये?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! कठिन प्रतिज्ञा में तो राजा उसके अनुपम रूप-लावण्य तथा दिव्य तेज के प्रभाव से बँध गये और कुल-गोत्र पूछने की उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी, क्योंकि इनके पूजनीय पिता महाराज प्रतीप प्रथम ही समझा गये थे, कि जो भी स्त्री एकान्त में तुमसे आकर विवाह का प्रस्ताव करे, उसे स्वीकार कर लेना।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! महाराज प्रतीप अपने पुत्र शन्तनु को ऐसी आज्ञा क्यों दे गये थे?"

सूतजी बोले—"महाराज! इस विषय में एक इतिहास है। उसे मैं सुनाता हूँ। महाराज प्रतीप के कोई सतान नहीं थी। इसलिये वे हरिद्वार में गङ्गा किनारे आकर पुत्र प्राप्ति के निमित्त घोर तप करने लगे। महाराज बड़े ही सुन्दर, बलिष्ठ तथा दर्शनीय थे। उनको देखकर सभी का चित्त आकर्षित हो जाता था। एक दिन महाराज सन्ध्या-वन्दन करके जप करने जा रहे थे, कि उनकी दाहिनी जंघा पर अत्यन्त ही सुन्दरी स्त्री आकर बैठ गई।

सहसा एक दिव्य रूप-लावण्य-युक्त सुर-सुन्दरी को अपनी गोद में बैठे देखकर राजा ने मधुर वचनों से कहा—"देवि! तुम कौन हो? क्यों आकर मेरी गोद में बैठ गई हो? तुम्हें कौन-सा कष्ट है? तुम मुझसे कुछ काम कराना चाहती हो क्या? कहो, मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ।"

उस स्त्री ने कहा—"राजन्! मैं आपका समागम चाहती हूँ।"

राजा ने कहा—"देवि! मैं तो पर-पत्नी को माता के समान मानता हूँ।"

उस ललना ने कहा—"महाराज! मैं पर-पत्नी नहीं हूँ, मैं तो धर्मपूर्वक आपकी पत्नी होना चाहती हूँ। मैं मानवी स्त्री नहीं हूँ, कन्या हूँ। गङ्गा मेरा नाम है, जह्नुतनया होने से मुझे लोग जाह्नवी भी कहते हैं।"

यह सुनकर महाराज प्रतीप बोले—"देवि! तुम्हारा कथन यथार्थ है, किन्तु भूल से समझो या दैवयोग से, तुमने अपने को मेरी पत्नी बनने के अयोग्य कर दिया।"

वह दिव्य कन्या बोली—"सो क्यों? महाराज!"

राजा बोले—"देखो, देवि! यह जो दाईं जङ्घा है, इस पर बैठने का पुत्र और पुत्रियों का ही अधिकार है। पत्नी के बैठने को ऋषियों ने वाम जङ्घा ही बतायी है। दाईं जङ्घा पर या तो पुत्री बैठ सकती है, या पुत्र वधू। अतः मैं तो तुम्हारे साथ विवाह कर नहीं सकता, किन्तु मेरा जो पुत्र होगा, वह तुम्हें अपनी पत्नी बना सकता है। मैं तुम्हें अपनी पुत्र-वधू के रूप में स्वीकार करता हूँ।"

गंगादेवी बोलीं—"अच्छी बात है महाराज! मुझे यही स्वीकार है। किन्तु आप अपने पुत्र को आदेश कर जायँ, कि वे मेरे किसी भी काम में हस्तक्षेप न करें।"

राजा ने कहा—"ऐसा ही होगा। यदि मेरे पुत्र हुआ तो इस बात से उसे सचेत करता जाऊँगा।"

यह सुनकर गंगादेवी वहीं तुरन्त अन्तर्धान हो गईं। तदन्तर महाराज घर आये। उनके तीन पुत्र हुए। बड़े देवापि तो वन में चले गये। जब महाराज वृद्धावस्था में राजपाट शन्तनु को सौंप कर वन जाने लगे, तब वे उनसे कह गये—'पुत्र! गंगा किनारे एकान्त मे कोई स्त्री तुमसे विवाह का प्रस्ताव करे, तो तुम उसके साथ विवाह कर लेना और उसके किसी काम मे हस्तक्षेप न करना। वह जैसा करे, उसे वैसा करने देना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज शन्तनु ने पिता की आज्ञा समझकर ही गंगादेवी से विवाह कर लिया और उसके किसी कार्य में हस्तक्षेप न करने की प्रतिज्ञा की। वे उसके साथ सुख पूर्वक रहकर आनन्द विहार करने लगे। राजा तो गंगा के रूप में ऐसे आसक्त हो गये कि उन्हें प्रजा के सुख दुःख का पता ही न रहा। इधर बारह वर्ष इन्द्र ने उनके राज्य में समय पर उचित वर्षा नहीं की। इससे समस्त प्रजा मे हाहाकर मच गया।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि राजा के पाप के कारण होती हैं। धर्मात्मा शन्तनु के राज्य मे इतने दिनों तक घोर अनावृष्टि क्यों हुई? उनके राज्य में अकाल क्यों पड़ा।"

सूतजी बोले—"भगवन्! यही प्रश्न महाराज शन्तनु ने ब्राह्मणों से किया था। उन्होंने सभी ब्राह्मणों को बुलाकर उनसे पूछा—"विप्रगण! मेरे राज्य में इन्द्र वर्षा क्यो नहीं करते?"

ब्राह्मणों ने कहा—"महाराज! आप मे परवेतृत्व दोप लग गया है। आपके बड़े भाई देवापि जीवित हैं, उनके रहते आप

राजा वन बैठे हैं। उनका अभी विवाह भी नहीं हुआ, आपने विवाह कर लिया है। इसी दोप के कारण इन्द्र आपके राज्य में वर्षा नहीं करते।"

राजा ने कहा—"इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये ?"

ब्राह्मणों ने कहा—"आप अपने बड़े भाई को राज्य दे दें, यही एक मात्र इसका उपाय है।"

यह सुनकर शन्तनु वन में निवास करने वाले अपने भाई को राज्य देने के लिये चले। मन्त्रियों ने देखा, यदि राजा देवापि को राज्य दे देंगे, तो उनके शासन में अराजकता फैल जायगी। यह सोचकर उन्होंने कुछ वावदूक नास्तिक ब्राह्मणों को देवापि के पास भेज दिया। फिर उन्होंने जाकर महाराज देवापि को नाना युक्तियों द्वारा वेद के अपौरुषेयत्व का खण्डन किया। दैव की गति से राजा के मन में यह बात बैठ गई। जब शन्तनु वन में अपने भाई को राज्य देने गये, तब ब्रह्मणों ने उनसे कहा—"राजन्! अमुक वेद के अमुक सूक्त में यह बात कही गई है, आप उसे मानते हैं या नहीं ?"

देवापि बोले—"मैं वेद-फेद को नहीं मानता।" ब्राह्मणों ने जब देखा, कि यह तो वेद-विरोधी है, राज्य का अनाधिकारी है, तब तो शन्तनु का न्यायानुसार राज्य पर अधिकार हो गया। यदि बड़ा भाई सदाचारहीन, अयोग्य तथा महारोग से ग्रस्त हो, तो उससे छोटा भाई न्यायपूर्वक पिता के राज्य का स्वामी होता है। अतः महाराज शन्तनु के लौटते ही इन्द्र भगवान् ने वृष्टि की। सम्पूर्ण सूखी हुई पृथ्वी हरी-भरी हो गई, सर्वत्र आनन्द छा गया।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! महाराज देवापि ने ऐसे वेद विरोधी वचन क्यों कहे ? क्या नास्तिक हो गये थे ?"

सूतजी बोले—"नहीं, महाराज! देवापि तो परम आस्तिक थे। वे तो भावीवश देवताओं के षड्यन्त्र से कुछ क्षण के लिये ऐसे बन गये थे। वे तो महान योगी हैं। अब तक वे श्री बदरी नारायण से आगे कलाप ग्राम में योग-समाधि द्वारा स्थित हैं। इस कलियुग के पश्चात् जो सत्ययुग आवेगा, उसमें ये पुनः उच्छिन्न हुए चन्द्रवंश की स्थापना करेंगे।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"हाँ, तो सूतजी! गंगाजी के गर्भ से महाराज शन्तनु के कितनी सन्तानें हुईं।"

सूतजी बोले—"महाराज! गंगाजी के गर्भ से अष्ट वसुओं ने जन्म ग्रहण किया। वसुओं को वशिष्ठ जी के शापवश मानव योनि में जन्म लेना पड़ा। उनमें से केवल एक ही शेष रह गये, जो भीष्म के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुए।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! वसुओं को वशिष्ठ जी ने शाप क्यों दिया और उनमें से एक ही शेष क्यों रहे?"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! अब मैं वसु-अवतार श्री भीष्म के जन्म की कथा आपको सुनाता हूँ, आप सब समाहित चित्त से उसे श्रवण करें।"

छप्पय

शल अरु भूरिश्रवा भूरि बाह्लीक नृपति सुत।
शन्तनु के सुत भीष्म भये वसु ज्ञानी श्रीयुत॥
पितु-प्रसन्नता-हेतु प्रतिज्ञा दुष्कर कीन्हीं।
सन्तति सुख ऐश्वर्य भोग-इच्छा तजि दीन्हीं॥
नहीं पुत्र तोऊ सकल, द्विज तरपन नित प्रति करैं।
होहिं जगत-महँ यशस्वी, जे पितु आयसु सिर धरैं॥

देवव्रत भीष्म

[७८५]

बाह्लिकात् सोमदत्तोऽभूद् भूरिर्भूरिश्रवास्ततः ।
शलश्च शन्तनोरासीद् गङ्गायां भीष्म आत्मवान् ॥*

(श्री भा० ९ स्क, २२ अ०, १८ श्लोक)

छप्पय

वसुगण इक दिन जात रहे नभमहँ है प्रमुदित ।
मुनि वशिष्ठ मग मिले भूलि नहि करी दण्डवत ॥
निरखि अवज्ञा क्रोध ब्रह्मसुत तिनिपै कीन्हों ।
जनमो भू पै सकल, शाप तिनि सबकूँ दीन्हों ॥
तेई गङ्गा-गरभ तैं, नृत शन्तनु के सुत भये ।
जनमत फेंके सात सुत, एक भीष्म ही बचि गये ॥

जो कार्य देखने में हमें अप्रिय और अहितकर प्रतीत होता है, उसके भीतर हित सन्निहित रहता है। किस कारण यह घटना घटित हुई, उसके मूल को जान लेने से पुनः क्लेश नहीं होता। इस बात का दृढ़ निश्चय हो जाय कि मङ्गलमय श्रीहरि के समस्त विधान मंगल के ही निमित्त होते हैं, तो मनुष्य शोक, मोह और

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! बाह्लीक से सोमदत्त हुए। उनसे भूरि, भूरिश्रवा तथा शल नामक तीन पुत्र हुए। शान्तनु से श्री गङ्गाजी मे आत्मवान् श्री भीष्म का जन्म हुआ।"

चिन्ता से सदा के लिये निर्मुक्त-निर्द्वन्द हो जाय। हमारे उदर के भीतर विकार एकत्रित हो गया है, वह व्रण बनकर बाहर निकलना चाहता है, तो व्रण होने में मंगल है। वह व्रण देह को स्वस्थ बनाने के लिये है। हमारे सौ रुपये नष्ट हो गये हैं, तो वह हजार प्राप्त होने के लिये हैं। प्राणी इसके रहस्य को समझता नहीं। तत्क्षण की क्रिया देखकर सुखी-दुःखी हो जाता है। यदि उसे इसके मूल कारण का ज्ञान हो जाय, तो फिर उसके सुखी-दुःखी होने का कोई कारण ही नहीं रह जाता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब मैं आपको अष्ट वसुओं ने, गंगा के गर्भ से, जन्म क्यों लिया, इस कथा-प्रसंग को सुनाता हूँ। भगवान् वशिष्ठ सुमेरु पर्वत के प्रान्त में एकान्त स्थान में रहकर तपस्या करते थे। उनका आश्रम अत्यन्त ही मनोहर था। उसके आस-पास योजनों वन था, जिसमें फल-फूल युक्त बहुत से वृक्ष थे और हरी-हरी कोमल दूबें। उसमें उनकी नन्दिनी गो सदा चरती रहती थी। नन्दिनी स्वर्ग की कामधेनु की पुत्री थी। वह अत्यन्त ही दर्शनीया तथा मनोरमा थी, उसके थन बड़े-बड़े थे, उसके खुर, पूँछ तथा सभी अंग अनुपम शोभा युक्त थे। जो कोई उसके दुग्ध को पीता, उसे वृद्धावस्था कभी भी बाधा नहीं देती थी।

एक दिन की बात है, नन्दिनी बड़े आनन्द के साथ हरी-हरी दूब चुग रही थी। उसी समय वहाँ आठो वसु अपनी पत्नियों-सहित आये। उन आठों वसुओं मे से एक का नाम द्यु वसु था। उसकी स्त्री बड़ी चञ्चला और सरल हृदय थी। उस सुन्दर गौ को देखकर उसने अपने पति से पूछा—"प्राणनाथ ! यह गो किनकी है ? यह तो बड़ी ही सुन्दर है। ऐसी गो तो मैंने आज तक देखी ही नहीं !"

द्युवसु बोले—"प्रिये ! यह स्वर्गीया कामधेनु की पुत्री नन्दिनी है। यह भगवान् वशिष्ठ की धेनु है। वे पुत्री के समान इसका पालन करते हैं। यह भी उनकी समस्त कामनाओं को पूर्ण करती है। इसके सुन्दर स्वादिष्ट दुग्ध का जो पान करता है, वह सहस्रों वर्ष जीता है, उसे वृद्धावस्था कभी बाधा नहीं पहुँचा सकती।"

यह सुनकर द्युवसु की पत्नी ने अत्यन्त ही प्रेम के साथ कहा—'प्रियतम ! मेरा एक आग्रह मानोगे ?"

द्युवसु ने कहा—"कहो, क्या बात है ?"

वसु पत्नी ने कहा—"प्राणनाथ ! आप मर्त्यलोक के परम धर्मात्मा राजर्षि उशीनर को तो जानते ही होंगे। उनके जीतवती नाम की एक कन्या है। ससार में वह सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है। मर्त्यलोक की तो बात ही क्या ? स्वर्गलोक में भी उसके समान कोई सुन्दरी नहीं। वह मेरी प्रिय सखी है। वह युवती है। मर्त्यलोक में यौवन स्थायी तो रहता नहीं। उसकी युवावस्था समाप्त हो जायगी, तब उसका वह अनुपम सौन्दर्य भी नष्ट हो जायगा। मैं चाहती हूँ, उसका यौवन सदा स्थिर रहे। आप किसी प्रकार इस गौ को पकड़ कर मुझे दे दें। मैं अपनी सखी को इसे दूँगी। वह इसका दुग्ध पीकर सदा युवती बनी रहेगी। इससे मुझे अपार हर्ष होगा।"

द्युवसु ने कहा—"प्रिये ! यह परम तेजस्वी वशिष्ठ मुनि की धेनु है। इस पर मन चलाना उचित नहीं।"

द्युवसु पत्नी ने कहा—"नहीं, प्राणनाथ ! आपको मेरा यह आग्रह तो मानना ही पड़ेगा। अपनी सखी का स्थिर यौवन देखकर मुझे अपार हर्ष होगा।"

बहुधा प्राणी अनुचित कार्य करके भी अपनी पत्नी को प्रसन्न करते हैं। नारी का प्रसन्न करने को ही नर अगाध जल में गोता

लगाता है और उसका हार बनाकर अपनी प्रियतमा के कंठ में पहनाता है। बड़े बड़े समुद्रों को पारकर, प्राणों का पण लगाकर वह समुद्र पार जाता है, वहाँ से धन कमाकर अपनी प्राणप्रिया को सुवर्ण और रत्नों के आभूषणों से लाद देता है। बड़े बड़े बलवान गजों के मस्तकों को विदीर्ण करके, उनसे मुक्ता निकाल-कर अपनी मनोरमा के मस्तक को वह सजाता है। यदि मनुष्य को अपनी प्रिया को प्रसन्न करना न हो, मन में द्रव्य का लोभ न हो, केवल भिक्षान्न से या वन्य फल मूल या शाक से ही इस उदर दरी को पूर्ण करके, भगवत्चिंतन में ही समय बिताना हो, तो वह अनुचित कार्य क्यों करने लगा? द्यु वसु अपनी पत्नी के आग्रह को टाल न सके। उन्होंने शेष सात भाइयों की सहायता से नन्दिनी को पकड़ लिया और अपनी पत्नी की सहेली उशीनर-कुमारी जीतवती के यहाँ पहुँचा दिया। उस समय वशिष्ठ मुनि आश्रम पर नहीं थे। वे फल फूल तथा समिधा कुश लेने जङ्गल गये थे।

फल-फूल लेकर जब महामुनि वशिष्ठ अपने आश्रम पर लौटे, तब उन्होंने वहाँ नन्दिनी को नहीं देखा। चारों ओर खोजने पर भी जब उन्हें गौ नहीं मिली, तब उन्होंने ध्यान लगाकर उसकी खोज की। समाधि के प्रभाव से मुनि ने वसुओं की सब करतूत जान ली। उन्हें वसुओं पर क्रोध आ गया। क्रोध के आवेश में उन्होंने वसुओं को शाप दिया—"तुम लोगों ने देवता होकर भी यह गर्ह्य कार्य किया है, अतः तुम सब को मर्त्य-लोक में, मनुष्य योनि में, जन्म लेना होगा। तुम स्त्री के उदर से उत्पन्न होगे।"

जब अष्ट वसुओं को मुनि के शाप की बात मालूम पड़ी, तब वे बहुत घबराये। भय से काँपते हुए मुनि से शाप लौटा लेने की प्रार्थना की। इस पर भगवान् वशिष्ठ ने कहा—"देखो, भाई!

महाराज शतन्तु अत्यन्त ही हर्षित हुए। गङ्गादेवी ने मानवीय रूप रख रखा था। वे महाराज को अपने हाव, भाव, कटाक्ष, रूप, लावण्य तथा प्रेम-चातुरी से सदा प्रसन्न रखतीं। महाराज भी उनके शील, स्वभाव तथा गुणों पर मुग्ध होकर उन पर लटटू थे। वे उन्हे समस्त भोग-सामग्री देकर सन्तुष्ट रखते। इस प्रकार उस दिव्य नारी के साथ रमण करते हुए उन्हें बहुत दिन व्यतीत हो गये। कालान्तर मे उसके गर्भ से आठ वसुओं ने क्रमशः जन्म लिया वे बच्चे जब पैदा होते, तभी गंगा उन्हें ले जाकर गंगा के प्रवाह मे छोड़कर कहतीं—"जाओ, मैंने तुम्हे मानवी देह से मुक्त कर दिया।"

राजा को गंगादेवी की यह बात बुरी तो बहुत लगती, किन्तु वे प्रतिज्ञा बद्ध थे। गंगा को उन्होने वचन दिया था—"मै तुम्हारे किसी भी कार्य मे हस्तक्षेप न करूँगा।" इसीलिये वे उनसे कुछ भी न कहते, यद्यपि पुत्रों को इस प्रकार जल मे छोड़ने से उन्हे अत्यन्त ही मानसिक दुःख होता। उन्हे यह भय था कि यह कहीं मुझे छोड़कर चली न जाय।

जब इस प्रकार गंगादेवी ने अपने सात पुत्रों को गगाजी के जल में डुबो दिया और आठवें को भी डुबोना चाहती थीं, तब शन्तनु ने कहा—"देवि! तुम कोई राक्षसी हो या आसुरी? तुम्हें ऐसा जघन्य कार्य करने में लज्जा भी नहीं आती। नीतिकारों ने सत्य कहा है—"जिस कन्या का कुल-शील मालूम न हो, उसके साथ विवाह न करना चाहिये।" मैं जानता भी नहीं, कि तुम किसकी पुत्री हो, कौन तुम्हारा कुल है। मुझे क्या पता था, कि तुम ऐसी क्रूर कर्मा होगी। तुम तो मेरे कुल को ही नष्ट कर दोगी। मेरा वंश इस प्रकार कैसे चलेगा?"

यह सुनकर हँसती हुई भगवती गगा बोलीं—"राजन्! मैं न

तो राक्षसी हूँ, न किसी असुर की सुता। मैं दिव्य कन्या हूँ। भगीरथ मुझे स्वर्ग से तपस्या करके यहाँ लाये थे। इसलिये लोग मुझे भागीरथी कहते हैं। जह्नु ऋषि ने मुझे पीकर पुनः अपने शरीर से निकला था, अतः मेरा नाम जाह्नवी भी है। मैं त्रिपथगा गंगा हूँ। शापवश मुझे मानवी योनि मे रहना पडा। जिन पुत्रों को मैंने गगाजी मे बहाया, वे अष्टवसु हैं। इन्होंने मुझसे मर्त्य-लोक में माता बनने की प्रार्थना की थी और यह भी प्रार्थना की थी कि जन्मते ही मानवीय शरीर से मुक्त कर देना। इसीलिये मैं इन्हे जल मे छोड़ देती थी। यह अन्तिम पुत्र आपके वंश को बचाने के लिये शेप रहेगा। महाराज! आपने मेरे कार्य मे हस्त-क्षेप किया, अतः अब मैं आपके पास न रहूँगी।" यह कहकर गंगा उस अन्तिम पुत्र को लेकर अन्तर्धान हो गई। गंगाजी का परिचय पाकर महाराज शन्तनु आश्चर्य चकित रह गये।

गंगाजी को अन्तर्धान हुए बहुत दिन व्यतीत हो गये। राजा गंगाजी को भूल नहीं सके। वे प्रायः एकान्त मे गंगा-किनारे बैठ कर गंगाजी का स्मरण करते रहते। गंगाजी ने राजा को ऐसा रति-सुख दिया था, कि वे पल भर को भी गंगाजी को न भूल सके। एक दिन महाराज गंगा-तट पर बैठे थे। उन्होंने क्या देखा कि गंगाजी की धारा सूख गई है। उन्हे बड़ा आश्चर्य हुआ कि समुद्रगा गंगा के प्रवाह को किसने रोक लिया। वे अत्यन्त कुतूहल के साथ आगे बढते गये। कुछ दूर जाकर उन्होंने देखा, एक अत्यन्त ही सुन्दर, दृढ़काय, बलिष्ठ, किशोरावस्थापन्न बालक धनुष-बाण लिये खड़ा है। उसने अपने अस्त्रों के प्रभाव से गंगाजी के वेग को ऐसा रोक दिया है, कि आगे को एक बूँद पानी भी नहीं जाता। वहीं समुद्र के समान स्थिर भाव मे रुका हुआ जल हिलोरें मार रहा है। यह देव सेनापति कार्तिकेय के

समान सुन्ढ और वली था, कामदेव के समान सुन्दर था, मूर्तिमान वीर रस समान एक पैर को आगे किये स्थिर भाव से खडा था। साक्षात् पराक्रम के समान वह अस्त्र-शस्त्रों का चमत्कार दिखा रहा था। महाराज शन्तनु ऐसे अद्भुत बालक को देखकर परम विस्मित हुए। महाराज ने पूछा—"हे पुरुष सिंह! तुम कौन हो?"

इतना सुनते ही वह बालक तुरन्त वहाँ अन्तर्धान हो गया। तब तो राजा को और भी आश्चर्य हुआ। वे गगाजी के तट पर बैठ गये और अत्यन्त ही करुण स्वर मे रोते-रोते बोले—"गगे! हे त्रिपथगामिनि! तुम मुझे उस देवकुमार को पुनः दिखाओ—यह कोई जादू है, माया है, या मेरे चित्त का भ्रम। प्रिये! तुम मेरे प्रति इतनी कठोर क्यों हो गई हो?"

इतने मे ही वे क्या देखते हैं, कि अत्यन्त ही शुभ्र साडी पहने एक देवकुमारी, उस कुमार को साथ लिये हुए, आ रही है। वे साक्षात भगवती गगा थीं। राजा के समीप वे मानवीय रूप बनाकर रहती थीं, तब उनका दूसरा वेश भूषा तथा रूप था। आज वे शुभ्र साडी मे बडी ही तेजस्विनी और दिव्य लोक की देवी जान पडती थीं। उन्होंने अत्यन्त ही मधुर वचनों मे कहा—"देव! तुम मुझे नहीं पहचान रहे हो क्या?"

राजा ने कहा—"देवि! आपकी वाणी सुनकर मैं ऐसा अनुमान कर रहा हूँ कि आप प्राणप्रिया जह्नुतनया साक्षात् त्रिपथगा गगा हो।"

गगाजी ने कहा—"हाँ, महाराज! आपका अनुमान यथार्थ ही है। मैं गगा ही हूँ। आपके वीर्य से जो मेरे अन्तिम पुत्र हुआ था, यह वही कुमार है। मैंने इसे पाल पोसकर इतना बडा किया है। भगवान् वशिष्ठ जी से इसने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र सीखे

हैं। इसे युद्ध में देवता, असुर, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर—सब मिलकर भी नहा हरा सकते। फिर पृथ्वी के राजाओं की तो कथा ही क्या ? महाराज ! अब आप इसे सम्भालें और अपने राज्य का अधिकारी बनावें।"

इतना कहकर और कुमार के हाथ को राजा के हाथ में देकर गगादेवी तुरन्त वहीं अन्तर्धान हो गईं। राजा उस कुमार को प्रसन्नता पूर्वक अपने नगर मे लाये तथा यथा समय उसे युवराज पद पर अभिषिक्त कर दिया। राजकुमार का नाम राजा ने देवव्रत रखा। देवव्रत बडे ही बुद्धिमान, धार्मिक, सुशील तथा पिता की आज्ञा के अनुकूल आचरण करने वाले थे। प्रजा के सभी लोग उन्हे प्राणों से भी अधिक प्यार करते। वे सभी के साथ अपने सगे सम्बन्धी तथा कुटुम्बियो की भाँति वर्ताव करते। उन्होने भगवान् परशुराम जी से भी अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की थी। ससार मे उस समय देवव्रत के समान कोई भी शूरवीर, बली तथा अस्त्र शस्त्र विद्या मे निपुण राजा अथवा राजकुमार नहीं था। देवता भी देवव्रत के पराक्रम से डरते थे। देवराज भी उनसे सहायता की इच्छा करते थे। पीछे इन्हीं देवव्रत का नाम भीष्म पडा।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी शन्तनु-सुत देवव्रत का नाम भीष्म किस कारण पडा ? देवव्रत तो उनका उतना प्रसिद्ध नाम नहीं है। सभी इन्हें भीष्म पितामह कहते हैं। क्या ये सभी के पितामह थे ?"

सूतजी ने कहा—'महाराज ! इन्होने अपने पिता को प्रसन्न करने के निमित्त युवराज पद को त्याग दिया था। यही नहीं आजीवन अविवाहित रहकर अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत की भीष्म प्रतिज्ञा भी की थी। इस कठोर प्रतिज्ञा करने के कारण ही सब

लोग इन्हें भीष्म के नाम से पुकारने लगे। ये कौरव और पांडवों के पितामह थे। सभी का पालन-पोषण इन्होंने ही किया था। जैसे राजा के गुरु को सभी गुरुजी कहने लगते हैं, राजा की माता को सभी माताजी कहते हैं, उसी उसी प्रकार राजा के पितामह होने से इनका नाम ही पितामह पड गया। इनके चरित बड़े अद्भुत हैं। इन्हाने युद्ध में विश्व विजयी भगवान् परशुराम जी को भी सन्तुष्ट किया था।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! हमें देवव्रत भीष्म के सभी चरित सुनाइये। उन्होंने क्यों अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा की और परशुराम जी से इनका युद्ध किस कारण हुआ ?"

इस पर सूतजी बोले—'अच्छी बात है, महाराज ! अब मैं आपको वीरयूथाग्रणी कुमार भीष्म का चरित सुनाता हूँ। आप दत्तचित्त होकर उसे श्रवण करें।"

छप्पय

गंगा जननी करचो भीष्मको पालन बनमहँ।
शन्तनुकूँ पुनि दये पाइ सुत हर्षित मनमहँ॥
लाइ करे युवराज राजमहँ चहुँदिशि मङ्गल।
शन्तनु नृप इक दिवस गये मृगया हित जङ्गल॥
बहु हिंसक पशु बध करे, पहुँचे नृप यमुना जहाँ।
लखी पार पथिकनि करत, दाशराज कन्या तहाँ॥

—०—

देवव्रत की भीष्म प्रतिज्ञा

[७८६]

शन्तनोर्दाशकन्यायां जज्ञे चित्राङ्गदः सुतः ॥
विचित्रवीर्यश्चावरजो नाम्ना चित्राङ्गदो हतः ।
यस्यां पराशरात् साक्षादवतीर्णो हरेः कला ॥*

(श्री भाग० ९ स्क० २२ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

जिनतैं कीन्हें प्रकट पराशर व्यास महामुनि ।
योजनगन्धा तुरत भई कन्या मुनि जनि पुनि ।
लखि कन्या-सौन्दर्य नृपति अतिशय हरषाये ।
कन्या-याचन-हेतु दासपतिके ढिँग आये ॥
नृप प्रस्ताव निषाद सुनि, हरषित ह्वै बोल्यो बचन ।
सत्यवती सुत होहि नृप, देहुँ करहि यदि आप प्रन ॥

अपने इष्ट की प्राप्ति उन्हीं को होती है, जो अपने बड़े से बड़े सुख को क्षण भर में तिलाञ्जलि दे सकते हैं। जो संसारी सुख

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं— "राजन् ! महाराज शन्तनु ने निषाद-राज की कन्या से विवाह किया। उससे चित्राङ्गद पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका उससे छोटा भाई विचित्रवीर्य था। कुमार चित्राङ्गद को चित्राङ्गद नाम के गन्धर्व ने मार डाला। उसी निषाद-कन्या के गर्भ से भगवान् के अंशावतार पराशर-नन्दन भगवान् व्यास उत्पन्न हुए।"

चाहते हैं, उन्हें पारलौकिक सुख मिलना अत्यन्त ही कठिन है। शारीरिक सुखों का बिना त्याग किये गुरुजनों की सेवा होती नहीं माता, पिता आचार्य तथा गुरुजनों की प्रसन्नता के लिये जो जितना ही बड़ा त्याग करेगा, संसार में वह उतना ही बड़ा यशस्वी होगा। समस्त त्यागों में स्त्री-सुख का त्याग करना बड़ा ही दुष्कर है। मनुष्य एक बार प्राण त्यागने को तत्पर हो सकता है, किन्तु जीवन भर स्त्री सुख के त्याग की प्रतिज्ञा करना बड़े ही शूरवीर, जितेन्द्रिय, दृढ़ प्रतिज्ञ तथा संयमी पुरुष का काम है, जिस पुरुष ने ऐसी भीषण प्रतिज्ञा करके, उसका निर्वाह किया है, वह विश्ववन्दनीय है, देवता भी उसके पदरज के लिये लालायित बने रहते हैं, भगवान् भी उसे स्वयं दर्शन देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गंगापुत्र शन्तनु-नन्दन का नाम भीष्म क्यों पड़ा, यह प्रसङ्ग मैं आपको सुनाता हूँ। युवराज होने के अनन्तर देवव्रत ने अपने पिता का सभी कार्य सम्हाल लिया। वे बड़े मनोयोग से राजकाज देखते। जिन कामों से प्रजा का भला हो, उन कामों को वे दृढ़ता से कराते। अब राजा को विश्राम मिल गया। वे स्वच्छन्द होकर वन उपवनों में घूमते, नदी तथा पर्वत-प्रान्तों में जाकर मृगया करते तथा सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करते।

एक दिन वे मृगया करते-करते यमुना किनारे निकल गये। वहाँ उन्हें दूर से कमलों की बड़ी ही सुन्दर सुगन्धि आने लगी। उस सुगन्धि के सहारे ही वे यमुना तट पर पहुँचे। वहाँ जाकर वे क्या देखते हैं कि एक अत्यन्त ही रूप लावण्ययुक्त युवती एक नौका की बल्ली लिये खड़ी है। उसके अनुपम सौन्दर्य से यमुना तट अत्यन्त ही सौन्दर्य युक्त बन रहा है। महाराज ने देखा, वह सुगन्धि उसी युवती के शरीर से निकल रही है। महाराज

अनुपम रूप लावण्य तथा अङ्ग-विन्यास से अत्यन्त ही प्रभावित हुए। उन्होंने उस सुन्दरी से पूछा—"देवि ! तुम कौन हो ? किस की पुत्री हो ?"

उस युवती ने कहा—"राजन् ! मैं निषाद-राज की पुत्री हूँ, सत्यवती मेरा नाम है।"

राजा ने पूछा—"तुम यहाँ नौका पर खड़ी-खड़ी क्या कर रही हो ?"

युवती ने कहा—"महाराज ! मेरे पिता ने मुझे इस पार के यात्रियों को उस पार और उस पार वालों को इस पार नौका से उतारने का काम सौंपा है। पिता की आज्ञा से मैं यात्रियों को पार उतारा करती हूँ।"

राजा ने कहा—"मुझे भी पार लगा दो। मैं तुम्हारे सौन्दर्य-सागर में डूबा जा रहा हूँ।"

यह सुनकर कन्या लज्जित हुई। उसने सिर नीचा करके कहा—"महाराज आपके मुख से ऐसी बात शोभा नहीं देती।"

राजा ने कहा—"तुम युवती हो, विवाह के योग्य हो, यदि मैं तुम्हारे साथ विवाह करना चाहूँ, तो तुम मुझे स्वीकार न करोगी ?"

अत्यन्त ही लजाते हुए शनैः शनैः सत्यवती ने रुक-रुककर कहा—"महाराज ! मैं स्वतन्त्र तो हूँ नहीं, अपने पिता के अधीन हूँ। मेरे पिता मुझे जिसे भी दे देंगे, उसी के साथ मैं चली जाऊँगी। विवाह करने में मैं स्वाधीन नहीं। यदि आप मुझे चाहते हैं, तो मेरे पिता से मुझे माँगे। वे योग्य वर समझकर मुझे अवश्य आपको दे देंगे।"

राजा धर्मात्मा थे। वे कन्या के पिता दाशराज के समीप गये और बोले—"निषादराज ! आप बड़े भाग्यशाली हैं, जो आपकी

पुत्री इतनी सुन्दरा है। अपनी पुत्री को आप मुझे दे दें। मैं इसके साथ विवाह करना चाहता हूँ।"

निषादों के पच उस निषादराज ने कहा—"राजन्! पिता पुत्री को दूसरे के ही निमित्त पालता है। पुत्री ज्यों ज्यों कन्यापन को त्यागकर युवती होती जाती है, त्यों त्यों पिता की चिन्ता बढ़ती जाती है। युवती कन्या के पिता का रात दिन यही चिन्ता लगी रहती है, कि मेरी पुत्री को कोइ योग्य वर मिल जाय, जहाँ जाकर वह सुखी रहे। मेरी पुत्री विवाह योग्य हो गई है। मैं उसके लिये योग्य वर की खोज में था। भगवान ने स्वय ही मेरी इच्छा पूरी की। महाराज! आप इस भूमण्डल के एक छत्र सम्राट हैं। मेरी पुत्री को आप जैसा वर कहाँ मिलेगा? किन्तु आपको विवाह के पूर्व एक प्रतिज्ञा करनी होगी।"

महाराज शन्तनु ने पूछा—"वह क्या?"

निषाद बोला—"वह यही कि मेरी इस कन्या के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न हो, वही आपके राज्य का उत्तराधिकारी हो महाराज! जैसे आप राजा हैं, वैसे ही यह भी एक राजर्षि के वीर्य से मत्स्य के उदर से उत्पन्न हुई है। मैं तो इसका पालक पिता हूँ। मेरी इच्छा इसके पुत्र को राज सिंहासन पर आरूढ हुए देखने की है।"

यह सुनकर महाराज शन्तनु सन्न रह गये। वे मन ही मन सोचने लगे—'इस निषाद ने तो मेरी इच्छा पर पानी फेर दिया। मेरा गंगा के गर्भ से उत्पन्न हुआ, गांगेय देवव्रत, पुत्र है। वह राज्य के सर्वथा योग्य है। उसमे सब गुण ही गुण हैं। उसे मैंने युवराज पद पर अभिषिक्त भी कर दिया है। यदि उसे छोड़कर मैं इसके भावी दौहित्र को राज्य देता हूँ, तो सभी प्रजा मुझे धिक्का-

रेगी, मुझे सभी कामी कहकर मेरी निंदा करेंगे। यदि इससे प्रतिज्ञा करके उसका मैं पालन नहीं करता, तो मुझे नरकों की यातनायें भोगनी पड़ेंगी। इस लोक और परलोक में मेरी अपकीर्ति फैलेगी। अतः इस युवती को पाने की अभिलाषा मुझे छोड़ ही देनी पड़ेगी। इसी में मेरा कल्याण है।" यह सोचकर वे कुछ भी नहीं बोले। उस कन्या के अनवद्य सौंदर्य तथा दिव्य रूप-लावण्य की चिंतना करते हुये, वे अपने नगर को लौट आये।

नगर में आकर वे सत्यवती के रूप को भुलाने की चेष्टा करते, किन्तु वे जितनी ही चेष्टा करते, उतनी ही उन्हें उसकी स्मृति दुःख देने लगी। योजनों तक उस युवती के अंग से फैली हुई गन्ध अभी तक उनकी नासिका से निकली नहीं थी।

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! निषाद-कन्या सत्यवती के शरीर से कमलों की ऐसी दिव्य गन्ध क्यों आती थी? इसका कोई विशेष कारण हो, तो उसे हमें बतावें?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! एक राजर्षि अपनी ऋतुस्नाता पत्नी को छोड़कर पितरों के उद्देश्य से मृगया के निमित्त वन में गये। वहाँ निरन्तर पत्नी का स्मरण करने से उन का शुक्र स्खलित हो गया। उसे एक दोने में पक्षी द्वारा उन्होंने अपनी पत्नी के निकट भेजा। राजा अमोघवीर्य थे। पक्षी उस अव्यर्थ वीर्य को लिये हुए गगन में अत्यन्त ही वेग से उड़ा जा रहा था। दूसरे पक्षी ने उसे कोई खाद्य पदार्थ समझकर उस पर झपट्टा मारा। दोनों में युद्ध हुआ, अतः वह दोना यमुना जी में गिर गया। उसे एक बड़ी मछली खा गयी और उसके उदर में गर्भ रह गया। दैवयोग से वह गर्भवती मछली एक निषादों के पंच के जाल में आ गयी। उसे पकड़कर जब उसका पेट चीरा गया, तब उसमें से एक कन्या निकली। वह बड़ी ही सुन्दरी तथा

रूपवती थी। किन्तु उसमे यही एक दोष था कि उसके शरीर से मछली की बडी दुर्गन्ध आती थी। इसीलिये लोग उसे मत्स्यगधा कहते थे। उसके शरीर से ऐसी बुरी गन्ध आती थी कि कोई उसके समीप ठहरना भी नहीं चाहता था। वह पिता की आज्ञा से यात्रियो को पार लगाया करती थी। दैवयोग से भगवान् पराशर उसकी नौका से पार जा रहे थे। उन्होंने उसके उदर से महायोगी भगवान व्यास को उत्पन्न किया और उसे दो वर दिये। एक तो व्यास को उत्पन्न करके भी तेरा कन्यापन नष्ट न होगा, तू ज्यों-की त्यों कन्या ही बनी रहेगी, दूसरा यह कि तेरे शरीर से जो मत्स्य की गन्ध आती है, अब मत्स्य के स्थान पर कमल की गन्ध आया करेगी और वह एक योजन तक जाया करेगी। उसी दिन से पराशर मुनि के प्रभाव से उसके शरीर से कमल की गन्ध आने और एक योजन तक जाने लगी। इसीलिये उसका एक नाम योजनगन्धा भी था।"

शौनक जी ने पूछा—"अच्छा तो फिर क्या हुआ ? महाराज शन्तनु ने उसके साथ विवाह किया या नहीं ?"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज ! यही तो मैं सुना रहा हूँ। महाराज जब से सत्यवती को देखकर नगर लौटे थे, तभी से अत्यन्त उदास रहने लगे। वे हँसते बोलते नहीं थे। घोडे पर चढ़कर मृगया के निमित्त भी न जाते और न किसी से विशेष बातें ही करते। वे निरन्तर एकान्त मे उदास बैठे घोर चिन्ता मे निमग्न रहने लगे।

एक दिन कुमार देवव्रत ने अपने पूज्य पिता से पूछा—"पितृदेव ! मैं देखता हूँ, आज-कल आप निरन्तर उदास बने रहते हैं। पहले जितने स्नेह और उल्लास के साथ आप मुझसे बातें करते थे, अब उस प्रकार बातें नहीं करते, मन्त्रियों से राज-काज की

बात भी नहीं पूछते। आप तो अत्यन्त ही मृगया प्रेमी थे, नित्य ही अश्व पर चढ़कर वन मे आखेट के लिये जाते थे। इधर कई दिनों से आप महल से भी नहीं निकले। आपको जो चिन्ता हो, मुझे बतावें।"

यह सुनकर शन्तनु ने कहा—"नहीं, बेटा! वैसे ही कुछ चित्त उदास सा रहता है।"

देवव्रत ने कहा—"पिताजी! आप मुझसे छिपायें नहीं। अपनी मनोव्यथा मुझे सुनावें। मैं उसके निवारण के लिये सतत प्रयत्न करूँगा।"

अत्यन्त ही स्नेह से शन्तनु ने कहा—"बेटा! क्या बताऊँ, आज-कल मेरा चित्त डाँवाडोल रहता है। जिसके योग्य पुत्र हो, उसे पत्नी के अभाव में भी दूसरा विवाह न करना चाहिये। तुम जैसे शूरवीर, सुयोग्य पुत्र के रहते मुझे दूसरे विवाह की बात भी न सोचनी चाहिये। किन्तु कभी कभी मेरे मन में विवाह करने की प्रेरणा होती है। शास्त्रकारों ने एक पुत्रवान् को अपुत्री ही बताया है। पुत्र उत्पादन सबसे बड़ा धर्म है। जिसने पुत्र उत्पन्न नहीं किया, अपने वंश को अक्षुण्य बनाये रखने के निमित्त आत्मजों की सृष्टि नहीं की, उसके जप, तप, दान, धर्म, यज्ञ, अनुष्ठान तथा समस्त शुभ कर्म वृथा हैं। इसीलिये मैं असमंजस में पड़ा हूँ कि तुम्हारे जैसे योग्य पुत्र के रहते, मैं विवाह करूँ अथवा न करूँ।"

अपने पिता के मुख से ऐसी बातें सुनकर परम बुद्धिमान राजकुमार देवव्रत ताड़ गये, कि पिताजी का मन कहीं फँस गया है। अब उन्हें इस बात की चिन्ता हुई, कि वह कौन-सी ऐसी भाग्यवती कुमारी है, जिसे मेरी माता बनने का अत्यन्त ही महत्व पूर्ण पद प्राप्त होगा। उन्होंने वृद्ध मन्त्रियों से, राजा के अत्यन्त

घनिष्ठ सुहृदों से, इस बात का पता लगाया। महाराज से तो वे पूछ ही कैसे सकते थे। पूछताछ करने से उन्हें यह विदित हो गया, कि पिताजी निषादराज की कन्या सत्यवती के ऊपर अनुरक्त हैं। इस बात के ज्ञात होने पर उन्होंने दश-पाँच वृद्ध ब्राह्मणों को साथ लिया। दस-बीस मण्डलीक राजा भी उनके साथ चले। इस प्रकार वे ब्राह्मण, राजा तथा सेवकों से घिरकर निषादराज के स्थान पर गये। निषादराज ने इन सब का अत्यन्त ही प्रेम के साथ स्वागत-सत्कार किया।

राजकुमार देवव्रत ने कहा—"दाशराज! तुम अपनी पुत्री को मेरे पूज्य पिताजी के लिये दे दो।"

यह सुनकर हाथ जोड़कर बूढ़ा निषादराज बोला—"कुमार! आपका कल्याण हो! मैं इसे अपना बड़ा भारी सौभाग्य समझता हूँ, कि आप मुझ जैसे दीन-हीन, अकिञ्चन, नीच के द्वार पधारे। राजन्! मेरी पुत्री का इससे बड़ा सौभाग्य क्या होगा, कि वह राजरानी बने? राजर्षि शन्तनु के समान योग्य वर और भरत-वंश के समान उज्वल कुल मुझे त्रिलोकी में अपनी कन्या के लिये और कहाँ मिलेगा? महाराज मेरी पुत्री को अपनाना चाहते हैं, यह मेरे लिये परम गौरव की बात है। यह पुत्री राजर्षि उपरिचर वसु के वीर्य से मछली के गर्भ से उत्पन्न हुई। मैं तो केवल इसका-पालक पिता हूँ। पर मैं इसे अपनी सगी पुत्री से भी बढ़कर प्यार करता हूँ। राजर्षि की पुत्री को राजर्षि-पति मिलना बड़े भाग्य की बात है। मैं अपनी पुत्री के अभ्युदय के लिये आपसे एक पण चाहता हूँ।"

कुमार देवव्रत ने कहा—"तुम जो चाहते हो, मुझसे कहो।"

निषादराज बोला—"मैं यही चाहता हूँ, कि इसके गर्भ से

जो पुत्र हो, वही कुरुकुल की गद्दी पर बैठे, भरत वंश का सिंहासन उसे ही प्राप्त हो।"

यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए कुमार ने कहा—"निषादराज! यह कौन सी बड़ा बात है? राजपुत्र होने से तुम्हारा दौहित्र राजा होगा ही।"

निषादपति बोला—"हाँ, महाराज! आपका यह कथन सत्य है। किन्तु न्यायानुसार राज्य के अधिकारी तो आप हैं। आपको छोड़कर मेरा भावी दौहित्र राजा कैसे बन सकता है?"

उस समय पितृ-स्नेह से कुमार देवव्रत की आँखों में आँसू आ गये। वे अत्यन्त ही गद्गद कण्ठ से, धीर गम्भीर वाणी में सब लोगों को सुनाते हुए, बोले—"निषादपति! मैं सबके सामने प्रतिज्ञा पूर्वक कहता हूँ, कि तुम्हारी कन्या के पुत्र होते ही मैं अपने राज्याधिकार को सर्वदा के लिये त्याग दूँगा। भू-मण्डल का राज्य तो क्या, मैं अपने पिता की प्रसन्नता के लिये धधकती हुई अग्नि में कूद सकता हूँ, अथाह सागर में डूब सकता हूँ, हलाहल विष पी सकता हूँ और जीवित अवस्था में ही अपने हाथों अपनी खाल को उधेड़ सकता हूँ! मैं अपने पिता की क्षणिक प्रसन्नता के लिये सब कुछ करने को उद्यत हूँ। आप तनिक भी चिन्ता न करें। भगवती सत्यवती के गर्भ से जो कुमार उत्पन्न हो, वही हम सब का राजा हो।"

यह सुनकर निषाद पति के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, आनन्द के कारण उसके रोम-रोम खिल उठे। फिर भी देवव्रत जैसे सुवर्ण को तपाकर विशुद्ध प्रकट करने के निमित्त उसने कहा—"राज कुमार! ये वचन आपके ही अनुकूल हैं। पिता के निमित्त इतना बड़ा त्याग आप जैसे धीर-गम्भीर, शूरवीर, सत्यप्रतिज्ञ, सदाचारी पुत्र ही कर सकते हैं। मेरे मन में एक संशय बना ही रहा।"

आश्चर्यचकित होकर कुमार बोले—"यह क्या ?"

दीनता के स्वर मे निपाद पति बोला—'कुमार ! आप बुरा न मानें। में अपनी पुत्री के स्नेह से अत्यन्त ही दीन हो गया हूँ। मैं इस बात को तो स्वप्न में भी नहीं सोच सकता, कि आप जो प्रतिज्ञा करेंगे, उसका पालन न करेंगे। अतः आप तो राजसिंहासन पर न बैठेंगे, किन्तु न्यायानुकूल तो राज्य पर आपका ही अधिकार है। मेरे दौहित्र को आप सबने राजा बना भी दिया, तो आपके पुत्र उन्हें लडकर राजगद्दी से उतार देंगे। आपके पुत्रों से देवता भी विजय नहीं पा सकते। इसी बात का मुझे सन्देह है।"

निपादराज के मुख से इतना कृपणतापूर्ण, किन्तु दूरदर्शिता भरी बात सुनकर कुमार देवव्रत अत्यन्त ही गम्भीर हो उठे और मेघ गम्भीर वाणी मे सबको सुनाते हुए बोले—"राजाओ और

विप्रवृन्द ! आप सब मेरी प्रतिज्ञा सुनें। पिता के प्रीत्यर्थ आज मैं धर्म को साक्षी देकर प्रण करता हूँ कि मैं जीवन भर विवाह न करूँगा। अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करते हुए मैं आजीवन अविवाहित ही रहूँगा। फिर तो बच्चे कहाँ से होंगे ? अब तो मैं समझता हूँ, निषादराज को मेरे पिता को अपनी पुत्री देने में कोई आपत्ति न होगी।"

सूतजी कहते हैं –"मुनियो ! राजकुमार देवव्रत की ऐसी प्रतिज्ञा करने पर सभी आश्चर्य-चकित होकर उनके मुख की ओर देखने लगे। देवताओं ने आकाश से पुष्पों की वृष्टि की, गन्धर्वों ने वसु-अवतार देवव्रत की प्रशंसा-सम्बन्धी गीत गाये। गङ्गाजी की धार से धन्य-धन्य के शब्द सुनाई दिये। मुनियो ! इसका नाम है धर्मपूर्वक त्याग ! नहीं तो वह निषाद इनके राज्य का एक साधारण नागरिक था। वे उसे डाँट-डपट कर अनुकूल कर सकते थे, बलपूर्वक कन्या का हरण कर सकते थे। किन्तु यह अधर्म और प्रजा के साथ अन्याय कहा जाता। धर्मात्मा शान्तनु और उनके यशस्वी कुमार देवव्रत ऐसी नीति, सदाचार तथा धर्म विरुद्ध कार्य क्यों करते ? देवव्रत की भीष्म प्रतिज्ञा सुनकर निषादराज के रोम-रोम खिल उठे। अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए, बार-बार कुमार की प्रशंसा करते हुए उसने कहा—"राजकुमार ! आपको छोड़कर ऐसी भीष्म प्रतिज्ञा दूसरा कौन कर सकता है ? आपके पिता के लिये मैं अपनी पुत्री सहर्ष देता हूँ।" यह कहकर वह सत्यवती को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके वहाँ ले आया।

भीष्मप्रतिज्ञ कुमार देवव्रत ने सिर झुकाकर सत्यवती को प्रणाम किया और अत्यन्त ही आदर के साथ कहा—"माताजी ! आप रथ में विराजें।"

सत्यवती पिता से मिलकर रथ में विराजी। सम्पूर्ण भूमंडल में कुमार के इस त्याग की बात फैल गयी। पिता ने जब अपने पुत्र की प्रतिज्ञा की बात सुनी, तब उन्हें बड़ी लज्जा आई, उनका हृदय पानी-पानी हो गया। उनकी अन्तरात्मा अत्यन्त सन्तुष्ट हुई। पुत्र की इस भीष्म प्रतिज्ञा से उन्हें आन्तरिक दुःख हुआ, किन्तु अब हो ही क्या सकता था। सूर्य चाहे पश्चिम से उदय होने लगे, सुमेरु चाहे अपने स्थान से टल जाय, गगाजी का प्रवाह चाहे समुद्र से बहकर हिमालय की ओर लौटने लगे, शेष-नाग चाहे पृथ्वी को धारण करना छोड़ दें, किन्तु देवव्रत अपनी प्रतिज्ञा कभी नहीं छोड़ सकते। इसलिये उन्होंने अपने प्यारे पुत्र से प्रतिज्ञा छोड़ने को नहीं कहा। अश्रुपूर्ण नेत्रों से उनके मस्तक पर हाथ फेरते हुए उन्हें वर दिया—"तुम रण में सदा विजयी होगे? तुम्हारा सामना युद्ध में देवता भी न कर सकेंगे? मृत्यु तुम्हारे इच्छाधीन होगी।" इस प्रकार भीष्म को वरदान देकर शन्तनु ने सत्यवती के साथ विधि पूर्वक विवाह किया। वृद्धावस्था में इतनी सुन्दरी देवकन्या के समान सुकुमारी पत्नी पाकर प्रजा-नाथ की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। राजकाज को तो भीष्म जी ही सम्हालते थे। प्रजा के लोग भी कुमार भीष्म के व्यवहार से परम सन्तुष्ट थे। अब तो महाराज निरन्तर सत्यवती के साथ रहकर आनन्द-विहार करने लगे। सत्यवती के गर्भ से दो पुत्र उत्पन्न हुए—बड़े का नाम चित्राङ्गद था और छोटे का नाम विचित्रवीर्य। ये दोनों बच्चे जब छोटे ही थे, महाराज शन्तनु इस असार संसार से सदा के लिये चल बसे। विधवा सत्यवती और उसके दो छोटे-छोटे पुत्र ही रह गये। चित्राङ्गद तो किशोरा-वस्थापन्न था, किन्तु विचित्रवीर्य तो अभी सत्यवती की था। राजा के बिना राजसिंहासन तो खाली रह

अतः भीष्म ने सत्यवती की अनुमति से चित्राङ्गद को राजा बना दिया।"

कुछ भी क्यो न हो, भीष्म के रहते, महाराज शन्तनु ने जो निषाद्-कन्या से विवाह किया, यह उचित और उनके अनुरूप नहीं था। इसीलिये उनके द्वारा वृद्धावस्था मे जो सन्तानें हुई, वे उनके अनुरूप नहीं हुईं। भीष्म तो प्रतिज्ञाबद्ध थे, स्वयं गद्दी पर बैठ नहीं सकते थे। चित्राङ्गद तो नाम-मात्र के राजा थे। राज-काज तो सब भीष्म ही करते थे। फिर भी चित्राङ्गद राजा होने पर अपने को बड़ा शूर-वीर और बली समझते थे। गन्धर्वराज चित्राङ्गद ने उन पर चढ़ाई की। कुरुक्षेत्र में दोनो ओर से युद्ध हुआ। भीष्म उस युद्ध में नहीं थे। गन्धर्वो ने चित्राङ्गद को मार डाला। अब फिर कुरुकुल की गद्दी खाली हो गई।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! चित्राङ्गद के मारे जाने पर भीष्म ने अल्पवयस्क कुमार विचित्रवीर्य को राजगद्दी पर बिठया और स्वय राज्य की देख-रेख करने लगे। कुछ काल में विचित्रवीर्य बड़े हुए। उन्होंने अपने को सर्वतोभावेन भीष्म को समर्पित कर दिया था। वे ऐसे बली भी नहीं थे, वृद्धावस्था की संतान थे, अपने पिता को उन्होंने भली भाँति देखा भी नहीं था। वे भीष्म को ही अपना पिता मानते थे, उन्हीं की आज्ञा मे रहते थे। भीष्म भी उनका पुत्रवत् लालन-पालन करते थे। सत्यवती की आज्ञा लेकर वे ही राज्य का सब प्रबन्ध करते थे। शनैः शनैः विचित्रवीर्य बड़े हुए। बाल्यकाल को त्यागकर अब उन्होंने युवावस्था में पदार्पण किया। अपने छोटे भाई को तरुण तथा विवाह योग्य देखकर भीष्म जी उनके विवाह की चिन्ता करने लगे। वे किसी योग्य प्रतिष्ठित क्षत्रिय कुल मे विचित्रवीर्य का विवाह करना चाहते थे। उसी समय उन्हे काशिराज की कन्याओं

के स्वयवर का समाचार मिला। भीष्म जी उस स्वयवर से कन्याओं को हर लाये और वही स्वयवर उनकी मृत्यु का कारण बना।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी ! भीष्मजी किस प्रकार काशिराज की कन्याओं को हर लाये और उनके कारण उनकी कैसे मृत्यु हुई ? कृपा करके इस प्रसग को आप हमें सुनाइये। बाल ब्रह्मचारी भीष्म के चरित सुनने में हमारी बडी आस्था है।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज ! अब मैं आपको भीष्म का अग्रिम चरित सुनाता हूँ। आप इसे समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

शन्तनु भये उदास लौट निज पुर महँ आये।
निज पितु इच्छा जानि कुँवर केवट ढिँग धाये॥
समुझि दाश पण भीष्म प्रतिज्ञा दारुण कीन्हीं।
त्याग्यो पद-युवराज सीख सब जग कूँ दीन्हीं॥
जीवन भर क्वारे रहे, पितु प्रसन्नता के निमित।
सत्यवती के गरभ तें, द्वै शन्तनु के भये सुत॥

विचित्रवीर्य का विवाह

[७८७]

विचित्रवीर्योऽथोवाह काशिराजसुते बलात् ।
स्वयंवरादुपानीते अम्बिकाम्बालिके उभे ॥
तयोरासक्तहृदयो गृहीतो यक्ष्मणा मृतः ॥❀
(श्री भा० ९ स्क० २२ अ० २४ श्लोक)

छप्पय

चित्राङ्गद नृप भये हते गन्धर्वराज रन ।
दूसर कुमर विचित्रवीर्य नृप करे प्रजागन ॥
काशिराज की सुता तीनि हरि लईं दुलारी ।
शन्तनु लघु सुत संग विवाही उभय कुमारी ॥
बोली अम्बा भीष्म तैं वरे शाल्व मैंने प्रथम ।
धर्म जानि पठओ तहाँ, इच्छा पूरन करहु मम ॥

ब्राह्मण बालिकायें कहती हैं कि उन्हें विद्वान, यशस्वी-तपस्वी

❀ श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! भीष्म द्वारा स्वयंवर से बलात्कार से लाई हुई काशिराज की अम्बिका और अम्बालिका नाम की दो कन्याओं से विचित्रवीर्य ने विवाह किया । उन दोनों कुमारियों में अत्यन्त आसक्त हो जाने के कारण विचित्रवीर्य को राजयक्ष्मा रोग हो गया, उसी कारण वे मर गये ।"

तथा धर्मात्मा पति प्राप्त हो। वश्य-कन्यायें चाहती हैं, हमारा पति श्री सम्पन्न वैभवशाली हो। शूद्र-कुमारियाँ चाहती हैं, हमें सेवा परायण, सधर्मा, धर्मात्मा पति मिले और क्षत्रिय कुमारियों की एकमात्र इच्छा शूरवीर, बली पति प्राप्त करने की होती है। सभी कुमारियाँ सुन्दर स्वरूपवान, स्वस्थ युवा पति की इच्छा रखती हैं। इसीलिये राजाओं के यहाँ प्राचीन प्रथा था, सभी कुलीन प्रतिष्ठित राजकुमारों को किसी नियत तिथि पर एक साथ सत्कार पूर्वक बुलाया जाता था। वे सब वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर कन्या के पिता के नगर में आते। उनकी एक सभा लगाई जाती, वहाँ विवाह के योग्य कन्या को बुलाया जाता और सभी राजाओं का कुल-गोत्र उनसे बताया जाता फिर कन्या को स्वतन्त्रता दे दी जाती, इनमें से वह जिसे चाह, वर ले। तब कन्या एक एक के समीप जाती, उसके कुल गोत्र सुनती, उसके बल की प्रशंसा सुनती। स्वयं उसके रूप को निहारती। फिर इन आगत राजकुमारों में से एक के गले में विजय माला डाल देती। उसी समय वह उसकी पत्नी मान ली जाती अर्थात् सगाई पक्की हो जाती। फिर शास्त्रीय विधि से दोनों का विवाह हो जाता। कभी कभी कोई बलवान् राजकुमार बलपूर्वक कन्या का हर ले जाता। यह भी शास्त्रीय विधि के ही अनुसार राक्षस विवाह है। क्षत्रियों में गान्धर्व और राक्षस विवाह की प्रशंसा की जाती है। क्षत्रियों में कन्या हरण शूरवीर, बली और साहसी राजा ही करता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कन्यावस्था में जिनसे कानीन भगवान् व्यास उत्पन्न हुए, जिन्होंने श्रीमद्भागवत संहिता की रचना करके मेरे गुरुदेव, अपने प्यारे पुत्र, भगवान् शुक को दिया, उन्हीं कैवर्त-कन्या भगवती सत्यवती से चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य—ये दो पुत्र उत्पन्न हुए। चित्राङ्गद को जब गन्धर्वराज

चित्राङ्गद ने युद्ध में मार डाला, तब विचित्रवीर्य राजा बनाये गये। वे विवाह योग्य हो गये, किन्तु उनका विवाह नहीं हुआ। भगवती सत्यवती राजर्षि उपरिचरवसु के वीर्य से मत्स्य के उदर में उत्पन्न हुई हैं, इस बात को ज्ञानी मुनि ही योग बल से जानते थे। सर्वसाधारण तो कैवर्त-कन्या ही मानते थे। अतः कुलीन राजा विचित्रवीर्य को अपनी कन्या देने में हिचकते थे। किन्तु जिनके रक्षक भीष्म जैसे शूरवीर हैं, उनका कोई क्या कर सकता था? भीष्म इस विचार में मग्न थे, कि विचित्रवीर्य का विवाह कहाँ करें? उसी समय उन्हें सूचना मिली कि काशिराज के विवाह-योग्य तीन कन्यायें हैं—वे अप्सरा के समान रूपवती, परम गुणवती तथा मनोरमा हैं। उन कन्याओं की प्रशंसा सुनकर देवव्रत भीष्म एकाकी ही रथ पर चढ़कर हस्तिनापुर से काशी के लिये चल दिये। वन, पर्वत तथा नद नदियों को लाँघते हुए वे कुछ ही काल में काशी जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने स्वयंवर की बड़ी भारी तैयारियाँ देखीं। देश विदेश के बहुत से राजा तथा राजकुमार कन्याओं के पाने की इच्छा से वहाँ एकत्रित हुए थे। सभी को आशा थी, कन्या हमीं को वरण करेगी। सभी वस्त्राभूषणों से सुसज्जित थे, सभी के मुकुटों में मणियाँ दमक रही थीं, सभी के लिये सुन्दर सिंहासन बिछे थे। काशिराज ने जब गांगेय भीष्म का आगमन सुना, तब उन्होंने उनका अत्यधिक स्वागत सत्कार किया। स्वयम्वर-सभा में भीष्मजी के लिये भी सिंहासन लगाया गया था।

नियत समय पर सभी राजा राजकुमार अपने अपने आसनों पर बन ठन कर सज धज कर आ बैठे। सब के बीच भीष्म को भी बैठे देखकर लोग परस्पर काना फूँसी करने लगे। कोई कहता—"यह बूढ़ा, स्वयम्वर सभा में आकर क्यों बैठ गया है?

क्या इसे भी इस बुढ़ापे में विवाह करने की इच्छा उत्पन्न हो गई है ?" दूसरा कहता—"अरे भाई ! इस बात को संसार जानता है कि भीष्म तो बाल-ब्रह्मचारी हैं। इन्होंने तो पिता को प्रसन्न करने के निमित्त आजीवन अविवाहित रहने की भीष्म प्रतिज्ञा की है।"

कोई कहता—"अरे, भाई, जब की होगी, तब की होगी। मनुष्यों की बुद्धि सदा एक-सी नहीं रहती। बाल पकने पर भी यदि मन न पके, तो उसे युवक ही समझना चाहिये।" कोई कहता-"अजी, चाहे पृथ्वी उलट-पुलट हो जाय, पर भीष्म अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड सकते।" इस पर दूसरा कहता—"अजी, यह रूप का प्रलोभन इतना कठिन है, कि इससे बचना बड़े-बडे योगियों के लिये कठिन है।"

इस प्रकार परस्पर विविध भाँति की बातें हो रहीं थीं, कि उसी समय सोलहो शृङ्गार करके, वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर तीनों राजकुमारियाँ स्वयम्वर-सभा में आईं। उनके आते ही सर्वत्र शान्ति छा गयी। सबकी दृष्टि उन्हीं की ओर लग गई। उनके मुखमण्डल की कान्ति तथा आभूषणों में लगे मणि-माणिक्य के आलोक मे ऐसा प्रतीत हुआ, मानों तीन सौदामिनियाँ एक साथ चमक उठी हों। वे तीनों मरालिनियो की भाँति नूपुर की ध्वनि करती हुई, अलसाई गति से, मन्द-मन्द आ रही थीं। बहुत-सी सखियाँ उनका अनुगमन कर रही थीं। सबसे बडी अम्बा आगे-आगे थी, उसकी अवस्था सत्रह वर्ष की होगी, यौवन के समस्त चिह्न उसके शरीर में प्रस्फुटित हो रहे थे। उससे छोटी अम्बिका मध्य में थी। वह अम्बा से छोटी और अम्बालिका से बड़ी थी। कमल के समान बडे-बडे विस्फुटित नेत्रों से वह लज्जा-सहित कुटिल कटाक्षों से कुमारों को निहार रही थी। सबसे छोटी

अम्बालिका सबसे पीछे थी। पन्द्रह वर्ष की उसकी आयु होगी। तीनों सगी बहनें थीं। रूप में, गुणों में, आकृति-प्रकृति में एक सी प्रतीत होती थीं। सहसा अपरिचित व्यक्ति एक-दो बार देखकर यह निर्णय नहीं कर सकता था कि इनमें कौन-सी अम्बा है, कौन अम्बिका और कौन अम्बालिका।

कुमारियों के आते ही सूत-मागधों ने उनसे सभी राजा और राजकुमारों का परिचय कराया। कुमारियाँ जिन-जिन राजकुमारों के सम्मुख जातीं, उन्हीं का पुनः परिचय कराया जाता। इसी नियमानुसार जब कन्यायें देवव्रत भीष्म के आगे गईं, तब उनका भी परिचय कराया गया। कन्याओं ने वहाँ लजाते हुए क्षीण स्वर मे कहा—"वृद्ध को कौन कन्या स्वेच्छा से वरण करेगी ?"

इतना सुनते ही सभी राजा राजकुमार ठठाकर हँस पड़े। उन सबको हँसते देख वीराभिमानी गांगेय भीष्म को क्रोध आ गया। वे सभी राजाओं को सम्बोधित करते हुए बोले—"राजाओ और राजपुत्रो ! मैं जो कहता हूँ, उसे आप श्रवण करें। आठ प्रकार के विवाहों में एक राक्षस-विवाह भी प्रचलित है। उसमें सर्वश्रेष्ठ बली कन्या को बलपूर्वक, अपनी वीरता का शुल्क देकर, कन्या की इच्छा हो अथवा न हो, हर कर ले जा सकता है। सहस्रों पुरुषों को विजय करके क्रन्दन करती हुई कन्या को ले जाना क्षत्रियों के लिये गौरव की बात है। यह तो आप सब जानते ही हैं कि मैंने आजीवन विवाह न करने की प्रतिज्ञा की है। अतः मैं इन कन्याओं को अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य के लिये हरकर ले जा रहा हूँ। जिनकी भुजाओं में बल हो, जो अपने को वीराभिमानी लगाता हो वह मुझसे युद्ध करके कन्याओं को लौटा ले जा सकता है।" इतना कहकर भीष्म जी ने सम्मुख खड़ी हुई तीनों कन्याओं को बलपूर्वक पकड़ कर सम्मुख तैयार खड़े अपने रथ में बिठा

लिया और स्वयं धनुष ताने रथ पर बैठकर सारथी से बोले — "रथ को हाँक दो।"

भीष्म का ऐसा साहस देखकर सारे राजकुमार भौंचक्के-से रह गये। इसमें उन्होंने अपना घोर अपमान समझा। वे संख्या में सहस्रों थे। सभी ने एक साथ मिलकर भीष्म के ऊपर प्रहार किया। जैसे तेज प्रकाश पर बरसात में चारों ओर से पतंगे टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार भीष्म के ऊपर वे असंख्य नरपति एक साथ टूट पड़े। भीष्म उनके प्रहारों से तनिक भी विचलित न हुए, उन्होंने दिव्यास्त्रों के प्रभाव से सभी को एक साथ मूर्छित कर दिया। सभी समरांगण में बाणों से क्षत-विक्षत हो कटे वृक्ष के समान गिर पड़े। कुछ राजा युद्ध छोड़कर भाग गये, कुछ लौट गये, कुछ वेदना के कारण भूमि पर गिरकर सिसकने लगे। इस प्रकार और सब राजा तो लौट गये, किन्तु राजा शाल्व भीष्म का पीछा करता ही गया। वह बड़ा ही बली था। उसे अपनी शूर-वीरता का बड़ा अभिमान था। उसने भीष्म से बहुत देर तक युद्ध किया। अन्त में उसे भी पराजित होना पड़ा। देवव्रत ने उसे जीवित ही छोड़ दिया। शाल्व अपनी राजधानी में लौट गया और स्वयम्वर की बातों को भुलाकर धर्मपूर्वक प्रजापालन करने लगा। बाकी राजागण भी जहाँ-जहाँ से आये थे, अपने-अपने देशों को लौट गये।

शन्तनु-कुमार भीष्म उन तीनों सुन्दरी कन्याओं को साथ लेकर हस्तिनापुर की ओर चले। मार्ग में वे उन तीनों कन्याओं के साथ पुत्री के समान अथवा पुत्रवधू के समान बर्ताव करते रहे। कई दिनों में वे काशी से चलकर हस्तिनापुर आये। नगरवासियों ने जब सुना कि देवव्रत भीष्म काशिराज की तीनों कन्याओं को बलपूर्वक युद्ध में विजयी होकर ले आये हैं, तब तो सभी ने भीष्म

का बड़ी धूमधाम से स्वागत किया। सबके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करके भीष्म कैवर्त-कन्या अपनी विमाता सत्यवती के महलों में पहुँचे। वहाँ उन्होंने तीनों कन्याओं को सत्यवती के सम्मुख खड़ी करके उन्हें प्रणाम करते हुए कहा—"माताजी! मैं आपके लिये लड़कर इन तीन पुत्र-वधुओं को लाया हूँ। इनके लिये मुझे सहस्त्रों राजाओं से युद्ध करना पड़ा। किन्तु आपके आशीर्वाद से मेरे शरीर में खुरसट भी नहीं लगी। अब आप इनके साथ अपने पुत्र का विवाह कर दीजिये।"

भीष्म की ऐसी बात सुनकर सत्यवती के नेत्रों में प्रेम के अश्रु आ गये। उन्होंने भीष्म का सिर सूँघा और प्रेम भरी वाणी में कहा—"आयुष्मन! तुम्हारे अतिरिक्त और कौन ऐसा पुरुषार्थ कर सकता है? तुम्हारा कल्याण हो। तुमने आज मेरा अत्यन्त ही प्रिय कार्य किया! देवकुमारियों के समान इन कन्याओं को अपनी पुत्र-वधुओं के रूप में देखकर मैं अपने को परम सौभाग्य शालिनी समझूँगी। अब तुम विधिपूर्वक इन तीनों का विवाह विचित्रवीर्य के साथ कर दो।"

फिर तो देवव्रत भीष्म उनके विवाह की तैयारियाँ करने लगे। तब उनमें से सबसे बड़ी कन्या अम्बा हाथ जोड़कर लजाते हुए भीष्म से बोली—"हे देव! आप धर्मात्मा हैं। स्वप्न में भी आप धर्म के विरुद्ध कार्य न करेंगे। महाराज! मैंने मन ही मन महाराज शाल्व को अपना पति बना लिया था। मेरे पिता ने भी मेरे सङ्कल्प का अनुमोदन किया था। सभी जानते थे, कि स्वयम्वर में जाकर मैं महाराज शाल्व को ही वरण करूँगी, उनके ही कण्ठ में जयमाला पहनाऊँगी। किन्तु जब तक मैं उनके सम्मुख जा भी नहीं सकी, तभी तक आप मुझे बलपूर्वक हर लाये। मन से मैंने

उन्हें अपना पति मान लिया है। अतः आप कृपा करके मुझे उनके ही समीप भेज दें।"

अम्बा के मुख से यह बात सुनकर देवव्रत भीष्म ने इस पर विचार किया। उन्होंने सोचा—"जब समर्थ युवती कन्या ने मन से किसी योग्य वर को आत्म समर्पण कर दिया है, तब उसे विवश करना उचित नहीं। मन कहीं रहे, शरीर कहीं रहे, तो ऐसे दाम्पत्य में सुख नहीं होता। मेरे भाई के लिये दो पत्नियाँ पर्याप्त हैं।" यही सब सोचकर उन्होंने कहा "राजकुमारि! तुम्हारी यदि यही इच्छा है, तो मैं तुम्हें महाराज शाल्व के ही समीप भेज देता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह कहकर धर्मात्मा भीष्म ने बड़े आदर सत्कार-पूर्वक, अम्बा को रथ में चढ़ाकर, बहुत विश्वसनीय वृद्ध ब्राह्मणों के साथ महाराज शाल्व के समीप भेज दिया। अन्त में यही अम्बा देवव्रत के प्राणों की प्यासी बन गयी। इसी के कारण स्वेच्छा मृत्यु वाले भीष्म की मृत्यु हुई। इसके पीछे ही उन्हें अपने गुरु परशुराम जी से युद्ध करना पड़ा।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब भीष्म ने अम्बा की इच्छा के अनुसार उसे शाल्व के समीप भेज दिया, तब फिर वह इनके प्राणों की प्यासी क्यों बन गई? कृपा करके इस वृत्तान्त को हमें अवश्य सुनावें। विश्व-विजयी परशुराम जी के साथ भीष्म का युद्ध कैसे हुआ? इसे सुनने के लिये हमारे मन में बड़ा कौतूहल हो रहा है।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है भगवन्! अब मैं आपको परशुराम और भीष्म के युद्ध का ही वृत्तान्त सुनाता हूँ।"

छप्पय

अम्बा इच्छा जानि शाल्व ढिँग भीष्म पठाई।
कन्या ने निज प्रीति विवशता नृपहिँ जताई॥
बल अभिमानी शाल्व कहै पर निर्जित कुमारी।
करूँ ग्रहण तो होहि जगत् महँ हँसी हमारी॥
अति अनुनय अम्बा करी, घुड़कि कही नृप च्यों बकै।
अपर गृहीता नारि का, नृप पटरानी बनि सकै॥

अम्बा के निमित्त भीष्म का परशुरामजी से युद्ध

[७८८]

सर्वधर्मविदां श्रेष्ठो महाभागवतः कविः।
वीरयूथाग्रणीर्येन रामोऽपि युधि तोषितः ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० २२ अ० १९, २० श्लोक)

छप्पय

ह्वै निराश बन माँहि लौटि अम्बा तब आई।
बिलखि-बिलखि निज विपति-कथा सब मुनिनि सुनाई॥
दैव-योग तैं परशुराम मुनिवर तहँ आये।
सुनि अम्बा वृत्तान्त राम-नयननि जल छाये॥
अम्बा के हित भीष्मतैं, परशुराम लड़िवे चले।
शुभागमन सुनि सुनि तुरत, हरषि भीष्म गुरु तैं मिले॥

अनन्त जन्म की वासनाएँ ही जीव को संसार-चक्र में घुमा रही हैं। हम जो भी शुभ-अशुभ करते हैं, वे सब संचित होते

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! शंतनुनन्दन भीष्म सम्पूर्ण धर्मात्माओं में श्रेष्ठ थे। वे परम भगवद्भक्त, आत्मज्ञानी तथा वीरों के अग्रणी थे। उन्होंने युद्ध में विश्व-विजयी परशुरामजी को भी सन्तुष्ट कर दिया था।"

जाते हैं। उन सचित कर्मों में से जो एक जन्म के भोग लेकर शरीर बनता है, उसे प्रारब्ध कहते हैं। इस जन्म मे जो प्रारब्ध के भोग भोगने होंगे, उनका तो विना भोग के नाश हो ही नहीं सकता। हम आगे के लिये जैसी वासना रखकर मरेंगे, वैसा ही जन्म होगा। प्रारब्ध-कर्म किसी को डण्डा मारकर कार्य नहीं कराते। प्रारब्ध का जैसा भोग होना है, वैसे ही यान्त्रिक बन जाते हैं। दरिद्र-घर मे जन्म लेने पर भी बहुत से राजा बन जाते हैं, बहुत से राजा के घर पैदा होने पर भी प्रारब्धानुसार भीख माँगते हैं। निर्धन-दरिद्र की लड़की रानी बन जाती है, राजकुमारी वन-वन भटकती फिरती है। हम जो भी इच्छायें करते हैं, वे सबकी सब पूरी अवश्य होंगी, किन्तु कब होंगी यह ठीक नहीं। बहुत से भोग स्वप्न मे ही भोगकर क्षय हो जाते हैं, बहुत से मनोरथ द्वारा ही भोगे जाते हैं। बहुतों के लिये जन्म धारण करना होता है। अत्युत्कट पुण्य-पापों का फल यहीं प्रायः मिल जाता है। यह प्राणी भावमय है—जैसा भाव करता है, वैसा ही बन जाता है। यह संसार भी भावमय है—जिसका जैसा भाव होता है, उसे वैसा ही यह दिखाई देता है। सुख-दुःख का दाता कोई व्यक्ति-विशेष नहीं। सभी सुख-दुःख प्रारब्ध से ही प्राप्त होते हैं। पुरुषार्थ से आगे के लिये संस्कार बन सकते हैं, प्रारब्ध सर्वथा मेटा नहीं जा सकता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अम्बा की इच्छा समझकर भीष्म ने उसे शाल्व के समीप भेज दिया। शाल्व के समीप जाकर अम्बा ने लजाते हुए शनैः-शनैः मधुर वाणी से कहा—"हे नरनाथ! मैं आपकी शरण आई हूँ।"

शाल्व ने कहा—"तुम कौन हो? मुझसे क्या चाहती हो?"

अम्बा बोली—"राजन्! मैं काशिराज की ज्येष्ठ कन्या हूँ?"

अम्बा मेरा नाम है। स्वयंवर के पूर्व ही मेरे पूज्य पिताजी ने कह दिया था, कि तू महाराज शाल्व को वरण करना। मैं भी आपके बल, पराक्रम की प्रशंसा चिरकाल से सुनती थी। आपके दर्शन करके तो मैंने अपना सर्वस्व आप के चरणों में समर्पित कर दिया था। मैंने मन से आपका पति वरण कर लिया था। अब आप मुझे अपनावें।"

शाल्व ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा - "तुम काशिराज की कन्या अम्बा हो? मैं भी तुम्हें मन से चाहता था। इसीलिये मैंने प्राणों का पण लगाकर भीष्म से युद्ध किया था। तुम्हे तो शन्तनु सुत गांगेय भीष्म बलपूर्वक हरकर ले गये थे। फिर तुम मेरे समीप कैसे आ गई ?"

अम्बा ने कहा—"देव! मुझे भीष्म हरकर तो अवश्य ले गये थे, किन्तु आप जानते ही हैं, वे तो बालब्रह्मचारी हैं। अतः मार्ग में वे हमें पुत्रियों की भाँति ले गये। पुर में जाकर जब वे अपने छोटे भाई के साथ हम तीनों का विवाह करने लगे, तब मैंने हाथ जोड़कर उनसे कह दिया—"मैंने तो अपना मन, शरीर तथा सर्वस्व महाराज शाल्व को अर्पित कर दिया है। आप मुझे उन्हीं के पास भेज दें।"

उन धर्मात्मा ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली और मुझे बड़े आदर से-बहुत से वृद्ध ब्राह्मणों के साथ-यहाँ भेज दिया। अब आप मुझे अपनावें, मुझे अपनी प्यारी पत्नी बनावें।"

इस पर शाल्व बोले—"भद्रे! मैं क्षत्रिय हूँ। दूसरे की वस्तु को मैं नहीं ले सकता।"

अम्बा ने कहा—"देव! मै दूसरे की वस्तु नहीं, आप की ही हूँ। मेरा मन सदा आप के ही चरणों में लगा रहता है।"

शाल्व ने कहा—"देवि! यह बात मेरी पद-प्रतिष्ठा, कुल, गोत्र

तथा गौरव के सर्वथा प्रतिकूल है। सब राजाओं को हराकर भीष्म तुम्हें ले आये हैं। अब तुम्हें कोई भी सच्चरित गौरवशाली राजा अपनी पत्नी नहीं बना सकता।"

अम्बा ने कहा—"नरनाथ! मैं सर्वथा दोष रहित हूँ। भीष्म मेरी इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक मुझे हर ले गये थे। मैं मन में सदा आपका ही चिन्तन करती रही। प्रार्थना करती हुई, दुःखिनी कामपीड़िता नारी को जो निराश लौटाता है, उसे गोवध के सदृश पाप लगता है!"

शाल्व ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"सुन्दरि! तू चाहे एक बार कह, चाहे लाख बार। मैं मुझे किसी भी दशा में नहीं अपना सकता। मेरी आशा तू छोड़ दे। जहाँ तेरी इच्छा हो वहाँ चली जा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अत्यन्त अनुनय-विनय करने पर भी अम्बा को शाल्व ने ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया, तब वह राजकुमारी बड़ी निराश हुई। वह सोचने लगी—"अब मैं पुनः भीष्म के समीप क्या मुँह लेकर जाऊँ? जाने पर भी अब वे मुझे अपने यहाँ नहीं रखेंगे। पिता के घर अब मैं जा नहीं सकती। अब तो मुझे आत्महत्या ही कर लेनी चाहिये।" यह सोचकर वह एकाकी घोर वन में चली गई।

काशिराज की प्यारी दुलारी राजकुमारी चलते-चलते वन में मुनियों के आश्रम पर पहुँची। वहाँ उसने बहुत से मुनियों को तपस्या करते देखा। प्राणों का मोह सभी को होता है। अम्बा ने सोचा—"आत्महत्या करके क्या करूँगी? मेरी यह दुर्दशा भीष्म के ही कारण तो हुई है? वे यदि बलपूर्वक, मुझ रोती हुई को मेरी इच्छा के विरुद्ध, न लाते, तो मैं राजकुमारी होकर आज

बन-बन क्यों भटकती फिरती ?" ऐसी ही बातें सोचते-सोचते उसने वह रात्रि बिना खाये-पिये एक वृक्ष के नीचे बिताई।

दूसरे दिन वह मुनि-मडली में पहुँची मुनिगण उसके अद्भुत रूप-लावण्य को देखकर आश्चर्य-चकित रह गये। फूल के समान अत्यन्त ही सुकुमारी को अनाथ की भाँति भटकते देखकर परोपकारी मुनियों के मन में करुणा उत्पन्न हो गई। अम्बा ने रोते-रोते अपनी करुण कहानी सभी को सुनाई, सुनकर सभी मुनि रोने लगे। मुनियों ने मन्त्रणा की। किसी ने कहा—"इसे शाल्व के क समीप भेज देना चाहिये," किसी ने कहा—"भीष्म के समीप भेज देना चाहिये," किसी ने कहा—"इसे इसके पिता के पास पहुँचा देना चाहिये।"

अम्बा ने कहा—"मुनियो ! मैं इन तीनों स्थानों में से कहीं पर भी जाना नहीं चाहती। आप मुझे सन्यासिनी बना लें। मैं तो अब तपस्या करते-करते इस शरीर को जला देना चाहती हूँ।"

उन मुनियों में, जो सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी तथा शास्त्रज्ञ थे, वे बोले—"बेटी ! तपस्या हँसी खेल नहीं है। फिर तू अत्यन्त ही सुकुमारी कन्या है। तेरा शरीर तप के योग्य नहीं है। तू यहाँ वन में रहेगी, यहाँ बहुत से राजा राजकुमार मृगया के निमित्त आते हैं। तेरे अनुपम रूप लावण्य को देखकर वे तुझसे विवाह का प्रस्ताव करेंगे। और भी भाँति भाँति के विघ्न पड़ेंगे। अतः सबसे सुन्दर बात तो यही है, कि तू अपने पिता के घर चली जा। वहाँ इच्छा हो, भजन करना, इच्छा हो, विवाह कर लेना। तुझमें कोई दोष तो है नहीं। गङ्गाजल के समान तू निर्दोषा है।"

अम्बा ने कहा—"मुनिवर ! मैं भले ही मर जाऊँगी, किन्तु अब पिता के घर लौटकर न जाऊँगी, इसी प्रकार भटकती रहूँगी। मुझे भीष्म पर बड़ा क्रोध आ रहा है।"

उसकी प्रतिहिंसापूर्ण बातों को सुनकर मुनियों ने उसे बहुत समझाया। किन्तु उसके मन को सन्तोष नहीं हुआ। इतने ही में सृञ्जय-वंशी राजर्षि होत्रवाहन वहाँ आ पहुँचे। उन वृद्ध राजर्षि को आते देख सभी मुनियों ने उनका स्वागत-सत्कार किया, अर्घ्य देकर उन्हें सुन्दर आसन पर बिठाया।

राजर्षि होत्रवाहन ने समस्त मुनियों से पूछा—"मुनिगण! आज आप इतने चिन्ताग्रस्त क्यों हैं? किस गूढ़ विषय पर आप सब वाद-विवाद कर रहे थे? यह भोली-भाली बच्ची कौन है? यह क्यों रो रही है?" तब मुनियों ने अम्बा की आदि से अन्त तक सब कथा उन्हें सुना दी। सुनकर राजर्षि होत्रवाहन ने अपने काँपते हाथों से अम्बा को अपनी गोद में बिठा लिया और सिर सूँघकर बोले—"बेटी! तू तो मुझे न जानती होगी। तेरे उत्पन्न होने के पूर्व ही मैं राज्य छोड़कर वन चला आया था। मैं तेरा नाना हूँ। तेरी इस विपत्ति से मैं अत्यन्त ही दुखी हूँ। बोल, मैं तेरा क्या प्रिय कार्य करूँ?"

अम्बा ने कहा—"नानाजी! मेरी यह दुर्दशा भीष्म के ही कारण हुई है। अतः मुझे भीष्म पर बड़ा क्रोध आ रहा है!"

इस पर राजर्षि होत्रवाहन ने कहा—"ना, बेटी! व्यर्थ किसी पर क्रोध नहीं करना चाहिये। सुख-दुःख का देने वाला तो भाग्य है। भीष्म को तो पता भी नहीं था कि तू शाल्व से विवाह करना चाहती है। जब उन्हें पता चला, तब तुझे तत्क्षण शाल्व के समीप उन्होंने भेज दिया।"

अम्बा ने कहा-"नानाजी! क्या बताऊँ? जब तक मैं भीष्म से बदला न लूँगी, तब तक मुझे शान्ति न होगी।"

यह सुनकर सूखी हँसी हँसते हुए होत्रवाहन बोले—"बेटी! भीष्म से बदला लेना कोई हँसी-खेल तो है नहीं। देवता भी समर

मे उनसे नहीं जीत सकते। उन बालब्रह्मचारी को काल भी अपनी इच्छा से नहीं मार सकता। हाँ, एक उपाय है। तू भगवान् परशुरामजी की शरण मे जा, वे सब कुछ करने मे समर्थ हैं। भीष्म उनके शिष्य है, वे चाहे तो उन्हे आज्ञा देकर, तुम्हें पुनः उनसे अगीकार करा सकते हैं। वे शाल्व का भी आज्ञा दे सकते हैं और चाहे तो भीष्म से युद्ध भी कर सकते है। आज कल वे महेन्द्र पर्वत पर घोर तप कर रहे हैं।"

यह सुनकर अम्बा को प्रसन्नता हुई। वह भगवान् परशुराम जी की सेवा मे महेन्द्र पर्वत पर जाने को उद्यत हुई। उसी समय परशुरामजी के प्रिय शिष्य अकृतव्रण वहाँ आ पहुँचे। सब न उन मुनि का स्वागत सत्कार किया। परस्पर की बातों ही बातो मे राजर्षि होत्रवाहन ने अम्बा का भी सब समाचार उनको सुनाया और उनसे भगवान् परशुरामजी का पता पूछा।

महामुनि अकृतव्रण ने कहा—"राजन्! भगवान् परशुरामजी आजकल यहीं समीप ही तप कर रहे हैं। बातों ही बातो मे वे आपको अपना प्रिय मित्र कहा करते हैं। आप यहाँ हैं, यह बात उन्हें विदित है। वे आपसे यहीं मिलने आवेंगे।"

यह बात सुनकर अम्बा को और महाराज होत्रवाहन को परम प्रसन्नता हुई। वह रात्रि इसी विषय की बातें करते-करते बीती। प्रातःकाल जब सब सन्ध्या अग्निहोत्र से निवृत्त हो गये, अग्निशाला मे बैठे, तब इतने म ही क्या देखत हैं कि बडे भारी डील-डौल वाले जटाजूटधारी भगवान् परशुराम आ रहे हैं। उन्हें देखकर सभी खडे हो गये। मुनि के पधारने पर सभी ने उनके चरणों मे प्रणाम किया, विधिपूर्वक उनकी पूजा की और उन्हे उच्चासन पर बिठाकर उनका सम्मान किया। परशुरामजी न मुनियों की पूजा को स्वीकृत करके उनके तप, अग्निहोत्र, पशु-

पक्षियों तथा वृक्षों का कुशल पूछा। फिर वे राजर्षि होत्रवाहन से इधर-उधर की बातें करने लगे। बातों ही बातों में महाराज होत्रवाहन ने अपनी दौहित्री अम्बा का समाचार उन्हें सुनाया। अम्बा की अवस्था, उसके शरीर की सुकुमारता तथा भोली-भाली सूरत को देखकर परशुरामजी को दया आ गयी। उन्होंने अम्बा से कहा—"बेटी! तू मुझसे क्या चाहती है? भीष्म तो मेरा शिष्य ही है। तू कहे तो मैं भीष्म से तुझे स्वीकार करा दूँ, तू कह तो शाल्व के साथ तेरा विवाह करा दूँ।"

अम्बा ने कहा—"प्रभो! शाल्व ने मेरा तिरस्कार किया है, मैं उसके साथ विवाह करना नहीं चाहती। मेरी दुर्दशा भीष्म के कारण हुई है, मैं भीष्म से बदला लेना चाहती हूँ।"

परशुरामजी ने कहा—"बेटी! भीष्म का तो इसमें कोई दोष नहीं। वह तो धर्मपूर्वक ही राक्षस-विधि से तेरा अपहरण करके लाया था। उसे तो पता भी नहीं था, कि तू शाल्व को चाहती है। जब उसे तेरे मनोगत भाव विदित हुए, तब तुरन्त उसने तुझे शाल्व के समीप भेज दिया। अब मैं यह करूँगा कि तुझे पुनः भीष्म से स्वीकृत करा दूगा। वह तेरा विवाह अपने भाई के साथ कर देगा। तुम तीनों बहनें साथ ही सुखपूर्वक रहना।"

अम्बा ने कहा—"यदि उन्होंने मुझे स्वीकृत न किया तो?"

परशुरामजी ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"करेगा क्यों नहीं? वह मेरा शिष्य है। वह न मानेगा तो मैं उसे पुनः युद्ध में परास्त करूँगा। पर पहले मैं उसे समझाऊँगा। यद्यपि मैंने अस्त्र-शस्त्रों का परित्याग कर दिया है, फिर भी धर्म की रक्षा के लिये ब्राह्मणों की आज्ञा से मैं पुनः अस्त्र ग्रहण कर सकता हूँ।"

अम्बा तो जानती ही थी, भीष्म जैसे आत्माभिमानी, हठी नीतिमानगण्य मुक्त पर-पुरुष से प्रेम करने वाली को कभी भी स्वी-

कार नहीं कर सकते। अच्छा है, उनके साथ परशुरामजी का युद्ध हो। यही सोचकर उसने कहा—"भगवन्! जैसी आपकी इच्छा।"

अपनी बात पर बल देते हुए भगवन् परशुराम बोले—"अवश्य, मैं आज्ञा-उल्लंघन करने पर भीष्म को युद्ध में मार डालूँगा।" ऐसी प्रतिज्ञा करके अम्बा को साथ लिये हुए परशुरामजी हस्तिनापुर की ओर चले। सहस्रों ऋषि मुनि कुतूहल के कारण उनके साथ हो लिये।

ऋषि-मुनियों से घिरे भगवान् परशुराम कुरुक्षेत्र पहुँचे। वहाँ सरस्वती नदी के तटपर सभी ने डेरा डाल दिया। परशुरामजी ने अपने आने की सूचना देवव्रत गांगेय भीष्म के समीप पहुँचा दी। गुरुवर परशुरामजी का शुभागमन सुनकर भीष्म को अत्यन्त ही प्रसन्नता हुई। वे पुरोहित, मन्त्री तथा वृद्ध ब्राह्मणों को साथ लेकर परशुरामजी के दर्शनों के निमित्त सरस्वती नदी के तट पर आये। आकर भीष्म ने परशुरामजी की प्रेमपूर्वक पूजा की, उनको मधुपर्क अर्घ्य और गौ भेंट की। फिर परशुराम ने भीष्म से राज्य, कोष, मन्त्री, अमात्य, सेवक, प्रजा तथा परिवार का कुशल पूछा। तदन्तर परशुराम जी भीष्म से बोले—"राजन्! मैं एक विशेष कार्य से तुम्हारे समीप आया हूँ।"

अत्यन्त ही नम्रता के साथ भीष्मजी ने कहा—"आज्ञा कीजिये, गुरुदेव!"

परशुरामजी ने रुक-रुककर अपना अधिकार प्रकट करते हुए कहना आरम्भ किया—"भैया! तुम जानते ही हो, यह अम्बा सर्वथा निर्दोषा है। इसमें चारित्र्य-सम्बन्धी कोई भी दोष नहीं। तुमने इसे शाल्व के समीप भेजकर उचित ही किया। शाल्व ने

इसे स्वीकार नहीं किया। अब तुम अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य के लिये इसे पुनः स्वीकार कर लो।"

भीष्म जी ने कहा—"भगवन्! ऐसा नहीं हो सकता।"

परशुरामजी ने उत्तेजित होकर पूछा—"क्यों नहीं हो सकता ?"

भीष्म ने कहा—"इसलिये कि इसका प्रेम परपुरुष से है।"

परशुराम जी ने कहा—"भाई, होगा तब होगा। फिर उससे तो इसका मानसिक प्रेम था।"

भीष्म जी ने कहा—"भगवन्! मनुष्य का मन ही बन्ध और मोक्ष का कारण है। ऐसी स्त्री के साथ विवाह करना आर्य संस्कृति के विरुद्ध है, जो अन्य पुरुष से प्रेम रखती हो।"

यह सुनकर क्रुद्ध हुए सर्प के समान फुफकार छोड़ते हुए परशुराम जी बोले—"भीष्म! तू अपने को बड़ा पण्डित मानता है। इस लड़की का अपहरण करके तूने इसे स्त्री-धर्म से भ्रष्ट कर दिया है। इसीलिये इसका पति इसे स्वीकार नहीं करता। इसका एकमात्र उपाय यही है कि अपने भाई के लिये तू इसे स्वीकार कर ले। नहीं तो मैं तुझे तेरे मन्त्रियों-सहित मार डालूँगा।"

अत्यन्त ही नम्रता के साथ भीष्म बोले—"गुरुदेव! मैं तो आपका प्रिय शिष्य हूँ। आप मुझे किस अपराध पर मार देना चाहते हैं। आप ही सोचें जब उसने एक बार स्पष्ट कह दिया, मैं शाल्व से प्रेम करती हूँ, और मैंने उसे उसकी इच्छा के अनुसार शाल्व के समीप भिजवा भी दिया, तब मैं इसे स्वीकार करूँ, तो कोई कहेगा, मैंने काम के वशीभूत होकर ऐसा किया, कोई कहेगा, 'लोभ किया,' कोई कहेगा, 'परशुरामजी से भयभीत होकर ऐसा अनुचित कार्य किया।' भगवन्! मैं काम, क्रोध, लोभ तथा भय से कोई भी अनुचित कार्य नहीं कर सकता।"

यह सुनकर परशुरामजी और भी अधिक क्रुद्ध हुए। उन्होंने कहा—"तू मेरा शिष्य होकर भी मेरी आज्ञा नहीं मानता ? अतः तू वधार्ह है। मैं तेरे साथ युद्ध करूँगा। तू तैयार हो जा।"

भीष्मजी को यह सुनकर रोष आ गया वे बोले—"महर्षे! मैं काल से भी युद्ध करने को तत्पर हूँ। क्षत्रिय युद्ध से कभी डरते नहीं। अम्बा को मैं ग्रहण न करूँगा न करूँगा, कभी न करूँगा-आप चाहे क्रुद्ध हों या युद्ध के लिये उद्यत हों। आप मेरे गुरु हैं, मैं आप पर पहले प्रहार न करूँगा, किन्तु यदि आप अस्त्र-शस्त्र लेकर क्षात्र धर्म के अनुसार मुझसे लड़ने को तत्पर हो जायँगे, तो मैं पीछे भी न हटूँगा। आपके लिये, वेदों के लिये, ब्राह्मण के लिये, मेरे हृदय मे आदर है। अस्त्र-शस्त्र लेकर समर में सम्मुख लड़ने वाले विप्र का भी वध करना अनुचित नहीं।"

भीष्म के इन वीरता पूर्ण वचनों को सुनकर वीराभिमानी परशुराम जी खिल-खिलाकर हँस पड़े और व्यंग्य के स्वर मे बोले साधु! साधु!! बड़ी प्रसन्नता की बात है! भीष्म! तू मेरा शिष्य होकर मुझसे लडना चाहता है ? जा, तू अपने बन्धु बान्धवों से अन्तिम भेंटकर आ। अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर तू कुरुक्षेत्र मे आ जा। मैं भी वहीं चलता हूँ। आज संसार देखे, वीराभिमानी भीष्म समर मे कैसे गिरता है, कैसे उसके मृतक शरीर को कङ्क, गृद्ध, मांस-भोजी जीव खाते हैं।"

यह सुनकर भीष्मजी ने परशुरामजी के चरणों मे प्रणाम किया और बोले—"अच्छी बात है गुरुदेव! आप भी तैयार हो जायँ। मैं अपनी माता से अनुमति माँग आऊँ।"

परशुराम जी से अनुमति लेकर उनकी चरण-वन्दना करके भीष्म हस्तिनापुर गये। परशुराम जी ऋषि-मुनियों और अम्बा

को साथ लेकर सरस्वती-तट को छोडकर स्यमन्त पञ्चक क्षेत्र के समीप रणाङ्गण में जाकर भीष्म की प्रतीक्षा करने लगे।

देवव्रत भीष्म ने सब समाचार अपनी माता सत्यवती को सुनाये। माता पहले तो सहम गईं, पर धैर्य धारण करके भीष्म को समर की अनुमति दे दी। उन्होंने भीष्म का स्वस्त्ययन किया। ब्राह्मणों ने उन्हें आशीर्वाद दिये। पुरोहित और सचिवों ने उन्हें स्नेह भरित हृदय से विदा किया। समस्त प्रजा के लोगों ने उनके प्रति मङ्गल कामना की।

भीष्म अत्यन्त शुभ्र वस्त्र पहन कर सफेद फूलों की माला धारण करके, धनुष-बाण लिये, रथ पर चढ़कर, परशुराम जी से युद्ध करने चले। श्वेत घोड़े हिनहिनाते कुरुक्षेत्र की ओर दौड चले। कुरुक्षेत्र के निकट पहुँच कर उन्होंने अपना दिव्य शंख बजाया। सभी ने उसे समर की सूचना समझी। आकाश में देवता और देवङ्गनाओं के झुण्ड के झुण्ड विमान आ गये। ऋषि- महर्षि चारों ओर खड़े होकर भीष्म और परशुराम के युद्ध को देखने की उत्सुकता करने लगे।

गांगेय भीष्म जब अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर परशुरामजी से युद्ध करने को उद्यत हुए, तब पुत्र स्नेह से कातर हुई देवी गङ्गा अपना दिव्य रूप रखकर, भीष्म के निकट आईं और बोलीं— "बेटा ! तू यह क्या अनर्थ कर रहा है ? विश्व विजयी परशुराम से तुझे युद्ध करना उचित नहीं। तू मेरा इकलौता पुत्र है। मेरे लाल ! परशुराम जी ने इक्कीस बार पृथ्वी के समस्त क्षत्रियों का संहार किया है। उनसे युद्ध न कर।"

इस पर भीष्म ने वीरतापूर्ण शब्दों में कहा— "माँ परशुराम मुझे भय दिखाकर मुझसे अनुचित कार्य कराना चाहते हैं। इन की तो बात ही क्या, एक बार साक्षात् यमराज भी आ जायँ,

तो डरकर मैं उनके सम्मुख नत न होऊँगा। मेरा कोई अपराध तो है नहीं! परशुराम मुझे युद्ध के लिये ललकार रहे हैं। फिर मैं कैसे पीछे हट सकता हूँ?"

यह सुनकर गंगादेवी परशुरामजी के समीप गई और अनुनय विनय करके उन्हें समझाने लगीं। तब परशुरामजी ने

कहा—"मुझे तो कोई आपत्ति है नहीं, भीष्म ही अभिमान के

वशीभूत होकर हठ कर रहा है। वह मेरी बात मान ले, तो ठ क है।"

गगादेवी यह सुनकर पुन. भीष्म के समीप आई और बाली—"बेटा! तू अपने गुरु की बात मान ले।"

भीष्म ने कहा—"माँ! तुम इस विषय मे कुछ मत कहो। मे युद्ध से पराङमुख नहीं हो सकता, भय के कारण कभी भी अपनी पद प्रतिष्ठा के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता।"

गगादेवी ने जब देखा कि दोनों मे से कोई मानता नहीं, तो वे भीष्म की मगल कामना करती हुई अन्तर्धान हो गई। अब दोनो ओर से युद्ध की तैयारियाँ हो गई। भीष्म दिव्य रथ पर बैठे थे। उनका चतुर सारथी उनका रथ हाँक रहा था। परशुरामजी का रथ भी अलौकिक था। उनके महा बुद्धिमान परम तपस्वी शिष्य अकृतव्रण उस रथ को हाँक रहे थे। जटा-जूटों का मुकुट बाँधे परशुरामजी मूर्तिमान वीर रस-से दिखाई देते थे। उन्होंने सर्वप्रथम भीष्म को लक्ष्य करके तीन बाण मारे। तुरन्त ही भीष्म ने अपने रथ को खडाकर लिया और रथ से कूद पडे। ऋषि-मुनि, देवता तथा अन्यान्य सभी देवव्रत के इस व्यवहार से परम चकित हुए। भीष्म ने धनुष-बाण रथ मे रख दिये। वे नगे पैरो ही चलकर परशुरामजी के समीप पहुँचे, और उनके चरणों में प्रणाम करके उनकी विधिवत् पूजा की। फिर हाथ जोडकर बोले—"गुरुदेव! मैंने आप से ही बाण विद्या सीखी है। आप मुझे युद्ध करने की आज्ञा दीजिये, और आशीर्वाद दीजिये कि मेरी विजय हो।"

भीष्म का ऐसा सदाचार पूर्ण-व्यवहार तथा उनकी अलौकिक विनय देखकर परशुरामजी का हृदय भर आया। वे बोले—"बेटा! ऐसा व्यवहार करके तूने मुझे प्रसन्न कर लिया। यदि तू

ऐसा न करता, तो मैं तुझे शाप देता। अब जा, विजय का आशीर्वाद तो मैं तुझे दे नहीं सकता, किन्तु तेरा मंगल ही होगा।"

भीष्म उनकी चरण वन्दना करके लौट आये। अब दोनों ओर से घोर युद्ध होने लगा। दोनों ही विश्वविजयी वीर थे। दोनों ही के पास दिव्यास्त्रों के समूह थे, दोनों ही रण-रङ्ग-दुर्मद, संयमी, सदाचारी, ज्ञानी, हठी और अपने पक्ष को प्रबल रखने वाले थे। दोनों ही प्राणों का पण लगाकर रणाङ्गण में अपना पुरुषार्थ और कौशल-प्रकाशित करने लगे। तीन दिनों तक दोनों में घमसान युद्ध होता रहा। तीसरे दिन अत्यन्त क्रोध करके परशुरामजी ने भीष्म के सारथी को मार डाला और भीष्म को मूर्च्छित करके धराशायी कर दिया। गंगा पुत्र देवव्रत को मृतक समझकर परशुराम गर्जना करने लगे, किन्तु अष्ट वसुओं और गंगादेवी ने भीष्म की रक्षा की, उन्हें पुनः चेत हो गया। वे पुनः परशुरामजी के ऊपर दौड़े। अब के उन्होंने एक दिव्य बाण छोड़कर परशुरामजी को घायल किया। मूर्च्छा भंग होने पर परशुरामजी पुनः भीष्म को मारने दौड़े। मुनियों ने उन्हें रोक लिया।

परशुरामजी का पराक्रम देखकर भीष्म निराश से हो गये। रात्रि में सोते समय अष्ट वसुओं ने स्वप्न में ब्राह्मण-वेश में आकर भीष्म को एक दिव्यास्त्र का स्मरण दिलाया। भीष्म पूर्व जन्म में वसु ही थे। प्रातःकाल जागते ही उन्हें वह अस्त्र स्मरण हो आया। समर के समय वे ज्योंही उस दिव्यास्त्र को छोड़ने को उद्यत हुए, त्योंही देवता, ऋषि, मुनि, सिद्ध, चारण तथा अन्यान्य दिव्य पुरुषों ने ऐसा करने से भीष्म को मना किया। अष्ट-वसुओं ने भी उन सबकी बात का अनुमोदन किया। गङ्गादेवी ने भी पुत्र को रोका। उन्होंने सब की बात मान ली। [illegible] ने भीष्म को दर्शन देकर प्रस्वापास्त्र छोड़ने से उन्हें रोका

परशुरामजी के पितृगण आकाश से उतर कर उनके समीप आये उनमें भगवान भृगु, ऋचीक तथा राजर्षि जमदग्नि भी थे। सबने परशुरामजी से युद्ध बन्द करने को कहा। परशुरामजी भीष्म के बल, पराक्रम, तथा युद्ध-चातुरी से सन्तुष्ट हो चुके थे, उन्हें जीतने की आशा खो चुके थे। उन्होंने चिल्लाकर कहा—"भीष्म ने आज मुझे जीत लिया।" यह कहकर वे खड़े हो गये।

तदन्तर परशुरामजी के पितरों ने उन्हें समझाया—"बेटा! ब्राह्मणों के लिये युद्ध शोभा नहीं देता। सब कार्यों का समय होता है! तुम्हारी शूरवीरता का समय समाप्त हो गया। यही बड़े भाग्य की बात है कि तुम भीष्म के हाथ से अभी तक जीवित हो। अब युद्ध समाप्त करो।"

यह सुनकर परशुरामजी ने कहा—"पितरो! युद्ध से न हटने की मैंने प्रतिज्ञा कर ली है। भले ही भीष्म युद्धबन्द कर दे।"

तब देवगण और पितर भीष्म के समीप आकर उनसे युद्ध बन्द करने को कहने लगे। भीष्म ने वीरता के साथ कहा—"मैं अपने स्थान से एक तिल भी नहीं हट सकता, चाहे ब्रह्माण्ड उलट जाय। क्षत्रिय अपने क्षात्रधर्म को कदापि नहीं छोड़ सकता।"

भीष्म के ऐसे वीरतापूर्ण उद्‌गार सुनकर सब ऋषि-महर्षियों, पितरों और देवताओं ने परशुरामजी को घेर लिया और बोले—"भीष्म अपना हठ छोड़ नहीं सकते। ब्राह्मण कैसा भी क्यों न हो, उसके हृदय से क्षमा दया-कभी जाती नहीं। अतः आप ही युद्ध बन्द करा दें।"

सबकी सम्मति के सम्मुख परशुरामजी को सिर झुकाना पड़ा। उन्होंने अपने अस्त्र-शस्त्र पृथ्वी पर रख दिये। फिर तो भीष्म ने भी अपने अस्त्र-शस्त्र रथ में रख दिये और दौड़कर परशुरामजी के पैरों पर पड़ गये। परशुरामजी ने प्रेमपूर्वक भीष्म

को उठाकर छाती से लगाया, उनका सिर सूँघा और सदा समर-विजयी होने का आशीर्वाद दिया।

जब परशुरामजी की आज्ञा पाकर उनकी पूजा करके भीष्म अपने नगर में लौट गये, तब परशुरामजी ने अम्बा से कहा—"बेटी! मैंने अपनी शक्तिभर चेष्टा की, किन्तु मैं सफल न हो सका। अब तेरी जो इच्छा हो, कर।"

परशुरामजी के मुख से यह बात सुनकर अम्बा ने कहा—"प्रभो! आपका कुछ दोष नहीं, यह सब तो मेरे भाग्य का दोष है। अब मैं तपस्या करके इस शरीर का त्याग करूँगी और दूसरे जन्म में भीष्म से इस अपमान का बदला लूँगी।"

यह कहकर वह तप करने एकाकी ही वन में चली गयी। उसके चले जाने पर सभी ऋषि-मुनि अपने-अपने आश्रमों पर चले गये। परशुरामजी भी महेन्द्र पर्वत पर जाकर घोर तप में निरत हो गये।

अब उस अम्बा ने जाकर वन में भीष्मजी से बदला लेने की भावना से घोर तप आरम्भ किया। ऋषियों ने उसे बहुत रोका, किन्तु वह मानी नहीं। शिवजी ने उसके तप से प्रसन्न होकर दूसरे जन्म में भीष्म से बदला लेने का उसे वर दिया। उसी समय वह कुमारी चिता बनाकर उसमें जल मरी।

इधर महाराज द्रुपद पुत्र के लिये तपस्या कर रहे थे। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर शिवजी ने उन्हें वर दिया—"तुम्हारे पहले एक कन्या होगी। वही फिर पुत्र बन जायगी।" द्रुपद ने यह बात आकर अपनी रानी से कही। नियत समय पर रानी के के गर्भ से एक कन्या हुई, किन्तु उसने यह प्रसिद्ध कर दिया कि उसके पुत्र हुआ है। उसने उसका नाम शिखण्डी रखा। वह द्रुपद-कन्या जब सोलह वर्ष की हो गयी, तब राजा ने उसे पुत्र

कहकर उसका विवाह दशार्ण देश के राजा हिरण्यवर्मा की पुत्री के साथ कर दिया। जब उस लडकी को पता चला, कि जिसके साथ मेरा विवाह हुआ है, वह लडका न होकर, लडकी है, वह केवल वस्त्राभूषण ही लडकों की भाँति पहनती है। तब उसने यह बात अपनी धाय से कह दी। राजा हिरण्यवर्मा को भी यह बात मालूम हुई। उसने द्रुपद पर चढाई कर दी। राजा रानी बहुत घबडाये। राजा ने द्रुपद के पास दूत भेजकर पूछा—"तुमने मेरा क्यों अपमान किया ?" शिखण्डी को बडी लज्जा आई। वह भागकर वन मे चली गयी, वहाँ स्थूणाकर्ण नामक एक यक्ष ने उसका स्त्रीत्व ले लिया और बदले मे उसे पुरुषत्व दे दिया। शिखण्डी ने यह बात आकर अपनी माता को बतायी, फिर माता ने द्रुपद से कही। द्रुपद ने दशार्णराज के पास सन्देश भेजा। राजा को जब विश्वास हो गया कि शिखण्डी लडकी नहीं है, तब वह बिना युद्ध किये ही लौट गया। भीष्मपितामह जानते थे कि अम्बा ही शिखण्डी बनकर उत्पन्न हुई है। अतः उसे देखकर उन्होंने युद्ध मे अस्त्र-शस्त्र त्याग दिये, तभी अर्जुन उन्हें मार सके।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार भीष्मजी ने काशिराज की तीन कन्याओं का हरण करके दो का विवाह तो अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य के साथ कर दिया और तीसरी को अपनी मृत्यु का कारण बना लिया।"

विचित्रवीर्य इतनी सुन्दरी दो राजकुमारियों को पाकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। वे उनमें इतने अधिक आसक्त हो गये, कि महलों से बाहर निकलते ही नहीं थे। राज-काज सब भीष्म ही सम्हालते थे। राजकुमारी रात्रि दिन विचित्रवीर्य की सेवा करतीं। अधिक सगम और विषयाशक्ति के कारण विचित्रवीर्य को राजयक्ष्मा रोग

हो गया। भीष्मजी ने बड़े-बड़े वैद्य और चिकित्सक बुलाकर विचित्रवीर्य की चिकित्सा करायी, किन्तु सब व्यर्थ ! अकाल ही सत्यवती-सुत विचित्रवीर्य काल-कवलित हो गये। वे उन युवती स्त्रियों को निःसन्तान छोड़कर परलोकगामी हुए। भीष्मजी ने बड़े कष्ट से अपने दूसरे भाई के भी प्रेत-संस्कार किये। जो दूसरे के अधिकार को छल-बल से छीनता है, वह भी उसका अधिक दिन उपभोग नहीं कर सकता ! कुरुकुल की गद्दी पुनः खाली हो गयी। सत्यवती ने भीष्म से विवाह करके गद्दी पर बैठने का बहुत आग्रह किया, किन्तु वे तो दृढ़प्रतिज्ञ थे। उन्होंने राजगद्दी पर बैठना स्वीकार नहीं किया। अब तो सबको वंश-परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने की चिन्ता हो गयी। सत्यवती अब इसके लिये और उपाय सोचने लगीं।

छप्पय

करिवे अम्बा ग्रहण भीष्म तैं राम कही परि।
मानी नहिं जब बात कही मुनि—आ मोतैं लरि॥
भयो युद्ध घनघोर, देवव्रत परि नहिं हारे।
भये राम सन्तुष्ट सकुचि वन माँहि सिधारे॥
अम्बा बनि के शिखण्डी, भीषम तैं बदलो लयो।
नृप विचित्र आसक्त अति, निज रानिनि महँ है गयो॥

विचित्रवीर्य के क्षेत्रज सुत

[७८६]

क्षेत्रेऽप्रजस्य वै भ्रातुर्मात्रोक्तो बादरायणः।
धृतराष्ट्रं च पाण्डुं च विदुरं चाप्यजीजनत् ॥*
(श्री भा० ६ स्क० २२ अ० २५ श्लोक)

छप्पय

भयो रोग क्षय पुत्र-हीन नृप स्वरग सिधारे।
माता सुमिरन करे व्यास मुनि तुरत पधारे॥
कुरु-कुल को क्षय जानि व्यासतैं करवायो सुत।
अन्ध भये धृतराष्ट्र पाडु अरु विदुर नीति युत॥
पुत्रवती रानी लखीं, भये हृदय सबके हरे।
शन्तनु सुत ने सब तनय, पालि-पोसि समरथ करे॥

धर्म की गति बडी सूक्ष्म है। धर्म प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के त्यागने को नहीं कहता, उन्हें संयमित नियमित करना चाहता है। मैथुन सृष्टि में मैथुन की इच्छा स्वाभाविक है, अपरिहार्य है। विषय- भावना से ही तो प्राणी पैदा होते हैं। अतः उसके लिये कामना होनी ही चाहिये। किन्तु

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! स्वर्गीय विचित्रवीर्य की पत्नियों में बादरायण भगवान् व्यास ने माता सत्यवती के कहने से धृतराष्ट्र, पाडु और विदुर नामक तीन पुत्र उत्पन्न किये।"

कामना से उसकी तृप्ति नहीं। उपभोग से कामना उसी प्रकार बढ़ती जाती है, जिस प्रकार अग्नि ईंधन डालने से। इसीलिये सर्वज्ञ ऋषियों ने काम की एक व्यवस्था बाँध दी है। यों अव्यवस्थित रूप से कामोपभोग की स्वतन्त्रता दे दी जाय, तो फिर पशुओं और मनुष्यों में अन्तर ही क्या रह जाय। अतः शास्त्रकारों ने कहा है—"ऋतौ भार्यामुपेयात्।" ऋतुकाल में अपनी ही भार्या में गमन करे। यह सामान्य नियम है। कभी-कभी इस व्यवस्था में समयानुसार कुछ छूट देनी पड़ती है। उसे आपद्धर्म कहते हैं। केवल विषय तृप्ति के लिये जो कार्य किया जाता है, वह धर्म कैसे कहा जा सकता है?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज शन्तनु ने काम-वश होकर जो कैवर्त-कन्या के साथ वृद्धावस्था में विवाह कर लिया, जिसके कारण सर्वसमर्थ भीष्म का अधिकार नष्ट हुआ, उसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। कुरु-कुल की परम्परा, जैसी चाहिये वैसी, अक्षुण्ण न रह सकी। जिस सत्यवती के रूप पर महाराज आसक्त थे, उसके साथ वे अधिक दिन रह भी न सके। दो छोटे-छोटे बच्चे उसकी गोद में छोड़कर वे परलोकवासी हुए। नाम के राजा भले ही हुए हों, पर राजकाज तो सब भीष्म ही करते थे। भीष्म को आशा थी, इन दोनों लड़कों में से कोई तो योग्य निकलेगा ही। किन्तु दोनों में से कोई योग्य न निकला। सत्यवती को बड़ी चिन्ता हुई, कि कुरु-कुल का, पुरुवंश का नाम ही मिटा जाता है। उसकी दृष्टि देवव्रत भीष्म पर जाती थी। पर वह जानती थी, देवव्रत बड़े हठी और दृढ़प्रतिज्ञ हैं। इसीलिये उनसे कुछ कहने का उसे साहस नहीं होता था।

एक दिन माता एकान्त में भीष्म से अत्यन्त ही नम्रता के साथ कहा—"देवव्रत! देखो, आज कुरु-कुल का दीपक बुझ रहा

है। सबकी दृष्टि तुम पर ही लगी है। अतः तुम अपनी प्रतिज्ञा ढीली करो—राजगद्दी पर बैठो, विवाह करो, सन्तान उत्पन्न करो, और कुरु-कुल की वंश परम्परा को अविछिन्न बनाओ।"

भीष्म ने कहा—"माताजी! सज्जन अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ते। मैं राज्य-ग्रहण न करने की अपनी प्रतिज्ञा से डिग नहीं सकता।"

माता ने कहा—"तुम मेरे आग्रह से इसे स्वीकार करो। राज्य लेने को तो मैं कह नहीं रही हूँ, मैं तो कुल परम्परा की वृद्धि के लिये आग्रह कर रही हूँ। तुम्हें यह भय हो, कि मेरे पश्चात् मेरे पुत्र ही राज्याधिकारी होंगे इससे मैं संसार के सम्मुख झूठा बनूँगा, तो तुम एक काम करो। अभी तो तुम राज्यभार सम्हालो विवाह मत करो। विचित्रवीर्य की जो ये दो राजकुमारियाँ हैं, परम सुन्दरी हैं, युवती हैं, इनमें तुम सन्तान पैदा करो। शास्त्रकारों का मत है कि जिसके साथ जिसका पाणिग्रहण होता है, उस क्षेत्र में जो सन्तान होती है वह उसी की कहाती है। इन रानियों में जो पुत्र होंगे, वे विचित्रवीर्य के ही कहावेंगे। जब वे समर्थ हो जायँ, तो तुम राज्य उन्हें दे देना। इससे वंश-परम्परा भी अक्षुण्य बनी रहेगी, तुम्हारी प्रतिज्ञा भी न टूटेगी। यद्यपि ऐसा करना विशुद्ध धर्म नहीं, किन्तु इस समय तो हमें आपद्धर्म का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा।"

भीष्मजी ने कहा—"माताजी! आपका कथन सत्य है। किन्तु मेरी यह प्रतिज्ञा भी तो है, कि मैं आजीवन ब्रह्मचारी रहूँगा। इसलिये विचित्रवीर्य की बहुएँ मेरे लिये पुत्री तथा पुत्र-वधू के समान हैं। मैं उनसे क्या, किसी स्त्री में सन्तान उत्पत्ति नहीं कर सकता।"

निराश होकर सत्यवती ने कहा—"तब अब क्या हो? क्या

राजर्षि प्रतीप का वश नष्ट हो जायगा ? तुम तो धर्मात्मा हो, तुम्हीं कोई धर्म बताओ ।"

भीष्मजी ने कहा—"माताजी ! आपत्तिकाल में मर्यादा रहती नहीं । मर्यादा हीन धर्म का ही नाम आपद्धर्म है । जब-जब आपत्ति आई है, तब-तब ऐसे धर्मो का पालन करना पड़ा है । जब परशुराम जी ने पृथ्वी के समस्त क्षत्रियों को नष्ट कर डाला था, तब क्षत्राणियों ने ब्राह्मणों द्वारा सन्ताने उत्पन्न कराई थी और वे सब के सब क्षत्रिय कहलाये । यदि सन्तानोत्पत्ति के अतिरिक्त वे सङ्गम करतीं, तो वह व्यभिचार होता । इसी प्रकार तुम भी किसी सुयोग्य ब्राह्मण को बुलाकर उसके द्वारा इन दोनों रानियों में सन्तान उत्पन्न करा लो, दूसरा कोई उपाय नहा ।"

इस पर लजाते हुए सत्यवती ने कहा—"देवव्रत ! तुम मुझसे ज्येष्ठ श्रेष्ठ हो, धर्मात्मा हो । हम सब की तुम ही एक गति हो । एक ऐसी बात है, जो तुमसे कहनी तो न चाहिये, किन्तु कहे बिना काम भी नहीं चलता । देखो, जब मैं कुमारी कन्या थी, तभी मेरे भगवान् पराशर के द्वारा एक पुत्र उत्पन्न हुआ था, वह पिता के ही समान तेजस्वी था । पैदा होते ही वह अपने पिता के साथ चला गया था । जाते समय वह वर दे गया था—"माताजी ! आप जब भी मेरा स्मरण करेंगी, मैं आ जाऊँगा ।" यदि तुम्हारी अनुमति हो, तो मैं उसे ही बुला लूँ । उसी से इन रानियों मे सन्तान उत्पन्न कराऊँ । उसका नाम व्यास है ।"

भीष्मजी ने कहा—"माताजी ! मैं भगवान् वेदव्यास को भली भाँति जानता हूँ । यह भी मुझसे अविदित नहीं है, कि वे आपके कानीन पुत्र हैं । महामुनि पराशर के आशीर्वाद से उन्हें जनकर भी आपका कन्यापन नष्ट नहीं हुआ था । उनके द्वारा सन्तान उत्पन्न कराना अधर्म नही है ।"

धर्मात्मा भीष्म की अनुमति पाकर माता सत्यवती ने उसी समय अपने पुत्र का स्मरण किया। स्मरण करते ही सर्वज्ञ भगवान् वेदव्यास तुरन्त वहाँ प्रकट हो गये। माता के हर्ष का वारापार नहीं रहा। कुशल-प्रश्न के अनन्तर उन्हें माता ने आदि से अन्त तक सारी कथा सुना दी। आपद्धर्म जानकर भगवान् वेदव्यास ने माता के गौरव से यह बात स्वीकार कर ली। उन्होंने कहा—"माँ! मेरा तेज असह्य है। मेरे शरीर से तपस्या के कारण उत्कट गन्ध निकलती है, घोर तप करने के कारण मेरा शरीर काला और कठोर हो गया है, जटायें ताम्रवर्ण की हो गई हैं। जिस स्त्री ने व्रत-उपवास न किया हो, वह मेरे समीप नहीं आ सकती। अतः तुम दोनों बहुओं से एक-एक वर्ष व्यापी व्रत कराओ। तब मेरे समीप आने की योग्यता प्राप्त कर सकेंगी।"

माता सत्यवती ने कहा—"भैया! हमें तो एक-एक क्षण भारी पड रहा है। बिना राजा के प्रजा उच्छृङ्खल हो जाती है, सर्वत्र अराजकता फैल जाती है, समय पर इन्द्र वर्षा नहीं करते, धार्मिक क्रियायें लुप्त हो जाती हैं। अतः तुम शीघ्र ही मेरे इस काम को करो।"

व्यासजी ने कहा—"जैसी तुम्हारी इच्छा। किन्तु तुम बहुओं से कह देना, वे सावधान रहें, डरें नहीं।"

सत्यवती ने यह बात स्वीकार कर ली। उसने अपनी बड़ी बहू अम्बिका को, जिसका नाम कौशल्या भी था, भली प्रकार समझा दिया। राजकुमारी ने इस बात पर आपत्ति की, किन्तु जब सास ने आग्रह किया, तब उसने उसे स्वीकार किया।

निशीथ के समय अम्बिका के शयनगृह मे भगवान् व्यास पधारे। अम्बिका वस्त्राभूषणों से अलङ्कृत होकर उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। शयनगृह भली-भाँति सजाया गया था। उसमें

सुन्दर सुगन्धित तैल का दीपक जल रहा था। भगवान् व्यास के पधारते ही वह गृह गन्ध से भर गया। भगवान् की लम्बी-लम्बी सुनहली जटाएँ दीपक के प्रकाश में विद्युतलता के समान दमकती हुई हिल रही थीं। बड़े बड़े विशाल नेत्रों से दिव्य प्रकाश निकल रहा था। उनकी दाढ़ी मूँछें कड़ी और कुछ-कुछ भूरी थीं। वे रुरु नामक मृग का चर्म ओढ़े थे। उनके ऐसे रूप को देखकर अम्बिका ने डर से नेत्र बन्द कर लिये और फिर व्यास भगवान् को उसने देखा ही नहीं। भगवान् उसके गर्भाधान-संस्कार करके चले गये।"

सत्यवती ने अत्यत ही उत्सुकतापूर्वक पूछा—"तात ! बताओ कौशल्या के गर्भ से हमारे कुल के अनुरूप ही पुत्र होगा न ?"

व्यासजी ने कहा—"माताजी ! मैंने तो आपसे पहले ही कहा कि सब काम में शीघ्रता अच्छी नहीं होती कौशल्या के गर्भ से दश हजार हाथियों के समान बलवाला पुत्र होगा, किन्तु होगा अन्धा, क्योंकि तुम्हारी बहू ने मुझे देखकर नेत्र बन्द कर लिये थे।"

सत्यवती ने कहा—"भैया ! अन्धा पुत्र तो राजा नहीं हो सकता। तुम कृपा करके और एक पुत्र हमारे लिये दूसरी रानी में उत्पन्न करो।"

भगवान् व्यास ने यह बात माता के गौरव से पुनः स्वीकार कर ली। अब के सत्यवती ने अपनी छोटी बहू अम्बालिका को भली-भाँति समझा दिया, कि तू नेत्र बन्द मत करना, सावधान रहना।" बहू ने भी यह बात मान ली। किन्तु जब नियत समय पर भगवान् वेद-व्यास पधारे, तब उनके तेजस्वी, तपस्वी रूप को देखकर मारे भय के पीली पड़ गयी। भगवान् ने उसके भी गर्भ धारण कराया। जब सत्यवती ने फिर पूछा—"इससे कैसा पुत्र

होगा ?" तब भगवान् ने कहा—"क्या बताऊँ माँ ! तुम्हारा भाग्य ही ऐसा है। पुत्र तो अच्छा होगा, किन्तु वह पीले रङ्ग का होगा। राज-काज में भी उसकी रुचि न होगी, क्योंकि तुम्हारी बहू मुझे देखकर भय के कारण पीली पड गई थी।"

इस पर सत्यवती ने कहा—"भैया ! एक बार तुम और कृपा करो। मेरी बडी बहू से एक सन्तान और उत्पन्न कर दो।"

भगवान् ने कहा—"माँ ! मैं जो भी कर रहा हू, विशुद्ध धर्म बुद्धि से कर रहा हू। इसमें काम का गन्ध भी नहीं।'

सत्यवती ने कहा— 'भैया ! यह तो मैं जानता हूँ। तुम जितेन्द्रिय और साक्षात् धर्म के स्वरूप हो, किन्तु हमारी विपत्ति की ओर भी तो देखो। हम एक सर्वगुण सम्पन्न सुत की आवश्यकता है, जो कुरु कुल का यशस्वी राजा हो।

व्यास जी ने कहा—"अच्छी बात है, एक वर्ष के पश्चात मैं फिर आऊँगा।' व्यासजी तुरन्त वहीं पर अन्तधान हो गये।

समय आने पर अम्बिका ने एक पुत्र उत्पन्न किया, जो जन्मांध था। उसका नाम धृतराष्ट्र हुआ। कुछ काल के अनन्तर अम्बालिका ने भी एक पुत्र रत्न प्रसव किया, जो पीतवर्ण का था। सम्पूर्ण शरीर का पाण्डु वर्ण होने से उसका नाम पाण्डु प्रसिद्ध हुआ।

अम्बिका जब प्रसव से निवृत्ति हो गई तब सत्यवती ने उसे समझाया—' बेटी ! यह अन्धा पुत्र तो राजा होने योग्य नहीं। अब व्यास देव फिर आवेंगे। तू उनसे डरना मत।' यह सुनकर अम्बिका ने वस [illegible] भूठे [illegible] नामी [illegible], किन्तु उसके मन में व्यास भगवान का भय बढ़ा हुआ था। नियत तिथि पर भगवान के पधारने की बात था। अम्बिका बहुत डर रही थी।

सूतजी बोले—"हाँ महाराज ! हुई क्यों नहीं ? किन्तु वे भी सब व्यासादि मुनियों की कृपा से हुई । अब मैं कौरव पाण्डव के जन्म की ही कथा सुनाता हूँ । आप इन नरपतियों की गाथा श्रद्धा सहित श्रवण करें ।"

छप्पय

अन्ध न राजा होहि विदुर दासीके जाये ।
तातैं मझिले पाण्डु प्रजा ने भूप बनाये ॥
अन्ध कुमर धृतराष्ट्र संग ब्याही गान्धारी ।
जानि अन्ध पति कबहुँ स्वय नहिँ वस्तु निहारी ॥
पति समान अन्धी भई, नयननि पट्टी बाँधिकें ।
विपुल कीर्ति जगमहँ लही, यों अखण्ड व्रत साधिकें ॥

धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्र

[७६०]

गान्धार्यां धृतराष्ट्रस्य जज्ञे पुत्रशत नृप ।
तत्र दुर्योधनो ज्येष्ठो दुःशला चापि कन्यका ।।
शापान्मैथुनरुद्धस्य पाण्डोः कुन्त्यां महारथाः ।
जाता धर्मानिलेन्द्रेभ्यो युधिष्ठिरमुखास्त्रयः ।।
नकुलः सहदेवश्च माद्र्यां नासत्यदस्रयोः ।*
(श्री भा० ६ स्क० २२ अ० २६, २७, २८ श्लोक)

छप्पय

एक सुता शत पुत्र जने गान्धारी रानी ।
दुर्योधन जिनिमाँहि ज्येष्ठ अतिशय अभिमानी ।।
कौरव सबकूँ कहैं पाण्डुसुत पाँचहु पाण्डव ।।
अर्जुन हरि के सखा जरायो जिन बन खाण्डव ।।
भारतमहँ कौरव मरे, पुत्र-मित्र-बान्धव सहित ।
कुन्ती माद्रीमहँ भये, पाँच पाण्डु के अमरसुत ।।

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—' राजन् ! महाराज धृतराष्ट्र के उनकी पत्नी गान्धारी से सौ पुत्र उत्पन्न हुए जिनमे दुर्योधन सबसे बडा था। दुःशला नाम की एक कन्या भी थी। पाण्डु शापवश मैथुन नही कर सकते थे। अतः उनके धर्म, वायु और इन्द्र द्वारा युधिष्ठिर आदि तीन पुत्र हुए। दूसरी पत्नी माद्री से भी अश्विनीकुमारो द्वारा नकुल और सहदेव दो पुत्र हुए। इस प्रकार कौरव सौ और पाण्डव पाँच थे।'

जिन सन्तानों को पिता ने पैदा किया है या पुत्र-पुत्री मानकर पालन-पोषण किया है, उन्हें विवाहित देखने की माता-पिता की स्वाभाविक इच्छा होती है। जिसमें मनुष्य स्वयं सुख का अनुभव करता है, उसी को अपने प्रिय को देना चाहता है। गृहस्थ का सबसे बड़ा सुख है, मिथुन हो जाना, एक से दो बन जाना। माता-पिता के लिये योग्य वधू और पुत्री के लिये योग्य वर के लिये निरन्तर चिन्तित रहते हैं। विवाह होने से सम्बन्धियों और वंश की वृद्धि होती है। अतः गृहस्थियों का सबसे श्रेष्ठ महोत्सव, सबसे सुख-प्रद कार्य विवाह ही होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! शन्तनु-सुत भीष्म ने धृतराष्ट्र, पान्डु और विदुर को पाल-पोसकर बड़ा किया। जब तीनों भाई कुरु-कुल की गद्दी पर बैठ गये और युवा हो गये, तब भीष्मजी को उनके विवाह की चिन्ता हुई। बड़े होने के नाते सबसे पहले उन्हें धृतराष्ट्र का विवाह करना था। धृतराष्ट्र अन्धे थे। अन्धे को अपनी कन्या कौन दे? किन्तु उत्तम कुल और धन ऐश्वर्य का ऐसा प्रलोभन होता है, कि महाव्याधि युक्त पुरुषों का भी विवाह हो जाता है। धृतराष्ट्र तो युवक सुन्दर राज-पुत्र थे।

गांगेय भीष्म ने सुना कि गान्धार देश के राजा सुबल के यहाँ एक अत्यन्त ही रूपवती-गुणवती पुत्री है। अतः उन्होंने उनके पास धृतराष्ट्र को अपनी कन्या देने का सन्देश भेजा।

महाराज सुबल ने जब सुना, धृतराष्ट्र तो अन्धे हैं, तब वे सोच में पड़ गये कि अपनी इतनी सुन्दरी-सुकुमारी, प्यारी-दुलारी पुत्री का विवाह एक जन्मान्ध के साथ जानबूझकर कैसे कर दूँ! फिर उन्होंने सोचा—"हम साधारण राजा हैं, कुलीन वंश के राजकुमार हमारे साथ सम्बन्ध करने में हिचकते हैं। हमारा देश भी म्लेच्छ-प्राय है। अच्छा है हमारा पुरुवंशी राजाओं से सम्बन्ध

स्थापित हो जाय। नेत्रहीन होने से क्या हुआ! इतने बड़े घर में जाकर कन्या तो सुख पावेगी।" यही सब सोच विचारकर महाराज सुबल ने सम्बन्ध स्वीकार कर लिया। महाराज के एक पुत्र था शकुनि। उसने भी पिता की सम्मति का अनुमोदन किया। इतनी दूर से बरात क्या बुलानी! यही सोचकर शकुनि अपनी बहन को रथ पर बिठाकर स्वयं ही हस्तिनापुर ले आया। भीष्मजी यह देखकर प्रसन्न हुए। उन्होंने महलों में शास्त्र विधि के साथ धृतराष्ट्र का विवाह गान्धारी के साथ कर दिया।

गान्धारी ने जब से यह बात सुनी कि मेरे पिता ने मेरा विवाह एक जन्मान्ध राजकुमार के साथ करने का निश्चय किया है, उसने भी तभी से अपनी आँखों में मोटी पट्टी बाँध ली। उसने सोचा—"मैं अपने अंधे पति के सदृश ही रहूँगी, जिससे मेरे मन में उनके प्रति अनादर का भाव न आ जाय।"

गान्धारी बड़ी ही पति परायणा थी। वह अपने शील, स्वभाव सदाचार तथा सद्व्यवहार से समस्त सम्बन्धियों को प्रसन्न रखती धृतराष्ट्र ऐसी सती साध्वी, पतिव्रता पत्नी पाकर परम प्रमुदित हुए और सुखोपभोग करने लगे।

भीष्म को पाण्डु के विवाह की चिन्ता हुई। महाराज पाण्डु शूरवीर, सुन्दर और गुणी थे। किन्तु वे पीले थे। भीष्मजी चाहते थे, कोई कन्या स्वयं उन्हें वरण करे। उन्हीं दिनों सुना कि महाराज कुन्तिभोज की कन्या कुन्ती का स्वयंवर है। कुन्ती उनकी अपनी पुत्री नहीं थी।

वृष्णिवंशीय महाराज शूरसेन बड़े ही धार्मिक राजा थे। उन्हीं के नाम से उस देश का नाम शूरसेन प्रसिद्ध हुआ। महाराज कुन्तिभोज उनकी बूआ के लड़के थे। दोनों में बड़ा स्नेह था।

महाराज कुन्तीभोज के कोई सन्तान नहीं थी। शूरसेनजी ने कहा—"हम अपनी पहली सन्तान आपको दे देंगे।"

भाग्य की बात! महाराज के हुई पुत्री। महाराज ने उसका नाम रखा पृथा। अपनी प्रतिज्ञानुसार महाराज शूरसेन ने उस कन्या को अपने फुफेरे भाई कुन्तिभोज को दे दिया। जैसे एक कुमुदिनी सुन्दर सरोवर से लायी जाकर दूसरे सरोवर में वृद्धि को प्राप्त होकर खिलती है, उसी प्रकार महाराज शूरसेन के महलों से जाकर पृथा महाराज कुन्तिभोज के महलों में बढ़ने लगी। वहाँ आकर उसका नाम कुन्ती प्रसिद्ध हो गया। महाराज शूरसेन के पृथा के अलावा चार कन्याएँ तथा वसुदेव आदि दस पुत्र और हुए। इसीलिये भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी की कुन्ती फुआ लगती थी। महाराज ययाति ने अपने पाँच पुत्रों में से चारों को राज्य से वहिष्कृत कर दिया था। केवल सबसे छोटे पुत्र पुरु को ही विशुद्ध क्षत्रिय मानकर राजा बनाया था। अत पुरुवंशीय राजा क्षत्रियों में सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे। यदुवंशी वैसे तो राजा होते थे, किन्तु उन्हें नियमानुसार सम्राट् के चिन्ह धारण करने का अधिकार नहीं था। पुरुवंशी राजाओं से उनका विवाहादि सम्बन्ध भी नहीं होता था। जब कुन्ती कन्या ही थी, तभी उसे महर्षि दुर्वासा की कृपा से देवहूती विद्या प्राप्त हो गई थी। मन्त्र की परीक्षा के लिये कुतूहलवश उसने भगवान सूर्य नारायण को बुलाया। उन्हीं से कन्यावस्था में ही अपने पिता के घर में ही महावीर कर्ण का जन्म हुआ। लोकापवाद के भय से कुन्ती ने छिपाकर उसे पिटारी में रखकर नदी के जल में छोड़ दिया। फिर भी सूर्य की कृपा से वह पूर्ववत् कन्या ही बनी रही। उसकी सुन्दरता की सर्वत्र ख्याति थी। बहुत से क्षत्रिय कुमारों ने महाराज कुन्तिभोज से कुन्ती की याचना की। एक को दें, एक को

न दें, तो बहुतों के बुरे बनें—यह सोचकर महाराज कुन्तिभोज ने कन्या का स्वयम्बर रचा। उसमे महाराज पांडु भी पधारे। कुरु-कुल-भूपण महाराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। कुन्ती ने भी महाराज पांडु की वीरता की ख्याति सुन रखी थी। अतः उसने उन्हीं के कंठ मे जयमाला पहना दी। अन्य सभी आगत राजा और राजकुमार निराश होकर लौट गये, कुन्ती का विवाह बड़ी धूमधाम के साथ महाराज पांडु के संग हुआ। कुन्ती जैसी सुन्दरी पत्नी पाकर पांडु प्रसन्न हुए।

कुन्ती के कुछ काल तक कोई सन्तान न हुई। तब भीष्मजी ने महाराज पांडु का दूसरा विवाह करना चाहा। उन्होंने सुना, महाराज मद्रराज के माद्री नाम्नी बड़ी ही सुन्दरी कुमारी है। शास्त्रकारों ने माद्र देश की बड़ी निन्दा की है। यह बात महाभारत मे महावीर कर्ण ने अपने सारथी बने मद्रराज महाराज शल्य से बार-बार कही हैं। अस्तु, इससे क्या। "कन्या-रत्नं दुष्कुलादपि" ऐसा नीतिकारों का वचन है। सो मद्रराज तो क्षत्रिय ही थे। इसीलिये देवव्रत भीष्म मन्त्री, पुरोहित तथा ब्राह्मणों के साथ बल्हीक वशावतंस महाराज मद्रराज के महलों मे स्वय गये। अपने यहाँ उनको आये देखकर मद्रराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने विधिवत् भीष्म की पूजा की और नम्रता के साथ पूछा—"प्रभो ! किस प्रयोजन से आप इतने नद, नदी, वन तथा पर्वतों को लाँघकर मेरे यहाँ पधारे हैं ? मेरे लिये कोई सेवा हो तो, उसके लिये आज्ञा कीजिये।"

भीष्म ने यह सुनकर कहा—"राजन् ! मैंने सुना है, आपकी कोई विवाह-योग्य अत्यन्त ही सुन्दरी कन्या है। उसे मैं अपने भतीजे पाण्डु के लिये आपसे माँगने आया हूँ।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए मद्रराज बोले—"महा-

राज ! मेरे लिये यह तो परम सौभाग्य की बात है। पुरुवंशी नरपतियों से सम्बन्ध स्थापित करना कौन नहीं चाहेगा। राजन! मेरी कन्या के लिये ऐसा सुन्दर वर, ऐसा समृद्धिशाली, गौरवान्वित कुल, पृथ्वी पर और कहाँ मिलेगा। किन्तु राजन्! हमारा कुल परम्परागत एक सदाचार है।"

देवव्रत भीष्म ने पूछा—"वह क्या है ?"

मद्रराज बोले—"मेरे यहाँ वर से धन लेकर विवाह करते हैं।"

भीष्म ने कहा—"यह तो बात अच्छी नहीं है। कन्या का द्रव्य लेकर विवाह करना निन्दनीय कार्य है।"

मद्रराज बोले—"जो हो, मुझे तो अपनी कुल परम्परा का पालन करना ही है।"

इस पर हँसकर भीष्म ने कहा—"अच्छी बात है। अपने पूर्वपुरुषों की स्थापित की हुई मर्यादा का आप पालन करें। मैं आपको यथेष्ट धन दूँगा।" यह कहकर भीष्मजी ने बहुत-सा सुवर्ण, बहुत मणि-माणिक्य-जटित सुवर्ण के आभूषण, रत्न, हय, गज तथा मोतियों के ढेर के ढेर मद्रराज को दिये। इन सब वस्तुओं को लेकर मद्रराज शल्य ने अपनी बहन माद्री को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके भीष्म को दिया। वे उसे हस्तिनापुर में ले गये और शुभ मुहूर्त में उसका विवाह पाण्डु के साथ कर दिया। अब पाण्डु के कुन्ती और माद्री—दो पत्नियाँ हो गईं और धृतराष्ट्र के एक गान्धारी। अब रह गये विदुरजी। सो उनके विवाह के लिये भी भीष्म चिन्तित हुए।

एक दिन माथुर मंडल के किसी ब्राह्मण से भीष्म ने सुना कि कंस के चाचा महाराज देवक के शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न एक युवती कन्या है, वह बड़ी ही सुशीला तथा धर्मपरायणा है। इस समाचार को सुनते ही भीष्मजी महाराज आहुक के पुत्र उग्रसेन के

भाई देवक के समीप गये और विदुर के लिए उनकी पुत्री माँगी।

इस पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए महाराज देवक ने वह सुन्दरी सुकुमारी सर्व लक्षण-लक्षणा कन्या भीष्म को दे दी। वे उस लडकी को लेकर अपने नगर मे आये और उसका विवाह विदुरजी के साथ कर दिया। महाराज देवक की देवकी आदि सात कन्याओं का विवाह वसुदेवजी के साथ हुआ था। माता देवकी के गर्भ से ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अवतार लिया था। इस सम्बन्ध से विदुरजी भगवान् के मौसा लगते थे।

इस प्रकार तीनो भाइयों के विवाह हो गये। कालान्तर मे धृतराष्ट्र के सौ पुत्र और एक कन्या हुई।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज धृतराष्ट्र के सौ पुत्र कैसे उत्पन्न हुए? सो वर्ष मे सो या दश-दश,पॉच-पॉच?"

हँसकर सूतजी बोले—"सौ के सो महाराज! एक साथ ही।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सो कैसे? सूतजी! इस कथा को आप हमें सुनाने।"

सूतजी बोले—"सुनिये, महाराज! धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी बडी पतिव्रता थी। एक दिन भगवान् वेद-व्यास गान्धारी के यहाँ अतिथि हुए। गान्धारी ने उनका अत्यधिक स्वागत-सत्कार किया। उसकी सेवा से सन्तुष्ट होकर व्यासजी ने उससे कहा—"बेटी! मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ, तू मुझसे कोई वर मॉग ले।"

गान्धारी ने हाथ जोडकर कहा—"भगवन! मेरे सो पुत्र हो।"

व्यासजी ने कहा—"ऐसा ही होगा।" यह कहकर वे चले गये। कालान्तर मे गान्धारी गर्भवती हुई। नौ महीने पूरे हो चले, दश बीते, एक वर्ष बीत गया—प्रसव के कोई लक्षण ही नहीं। गान्धारी को बडी चिन्ता हुई, एक एक महीना करके एक वर्ष और बीत गया। फिर भी प्रसव का कोई ठिकाना नहीं! इसी बीच

उसने सुना कि कुन्ती ने एक पुत्ररत्न अरण्य में उत्पन्न किया है। अब तो उसे बडी ईर्ष्या होने लगी। मेरी द्वैरानी तो पुत्रवती हो जायँ, जिठानी होकर भी मेरे पुत्र नहीं! दो वर्ष से इस गर्भ को पेट मे लिये फिरती हूँ, फिर भी यह न बढता है, न बाहर निकलता है। कौन भूत, प्रेत,राक्षस मेरे उदर मे आ गया? यह सोचकर उसे क्रोध आ गया। उसने गर्भस्थ बालक को हाथ मार मार कर बाहर निकाल दिया। एक मास पिंड उत्पन्न हुआ। उसके हाथ, पैर, सिर धड—कुछ भी नहीं थे। उसने दासी से कहा—"इस मास पिंड को बाहर फेंक आ।"

दासी ज्योंही उसे बाहर फेंकने चली, त्योंही भगवान् व्यास देव वहाँ प्रकट हो गये। उन्होंने दासी को रोकते हुए कहा—"ठहरो।" दासी ठहर गई। भगवान् व्यास गान्धारी के पास जाकर पूछने लगे—"सुबल पुत्री! क्या बात है?"

गान्धारी ने कहा—"अजी, महाराज! कहाँ तो सौ पुत्रों का आप वर दे गये कहाँ दो वर्ष मे एक हुआ भी, तो लोहे के समान मास पिंड! यह तो अब भी न होता, मैंने बलपूर्वक इसे बाहर किया है।"

व्यासजी ने कहा—"देख, बेटी! मैंने तो कभी हँसी में भी असत्य भाषण नहीं किया है। तेरे सौ पुत्र अवश्य होंगे। किन्तु तूने ईर्ष्या-वश शीघ्रता कर डाला। अभी इसे दो वर्ष से अधिक गर्भ मे रहना था। अस्तु, कोई बात नहीं। तू इसे एक पात्र में रखकर ठण्डे जल से नित्य सींचती रह। कुछ दिनों में अपने आप इसके सौ टुकडे हो जायँगे। उनमे से प्रत्येक को घृत के भरे घडे घडे में रखकर तू उनका मुख बन्द कर देना और दो वर्ष तक उनको मत खोलना। जितने घडे हैं, उन सबमे एक एक पुत्र हो जायगा। आगे मेरे आज्ञानुसार ही काम करना।"

गान्धारी ने कहा—"अच्छी बात है, भगवन् !"

यह सुनकर भगवान् व्यासदेव तुरन्त वहीं अन्तर्धान हो गये। गान्धारी ने बड़े-बड़े सौ घड़ों मे घृत भरवा रखा था। एक दिन सहसा अँगूठे के पोर के समान उस मांस-पिंड के सौ टुकड़े हो गये। गान्धारी उन्हे बड़ी सावधानी से दासी से घृत के घड़ो मे रखवाने लगी। उसी समय उसके मन मे संकल्प हुआ, "मेरे एक पुत्री होती, तो उसका कन्यादान करती ! स्त्रियो के लिये जामाता अत्यन्त ही प्यारा होता है।" वह यह सोच ही रही थी, कि धाय ने कहा—"मैंने सौ घड़ो मे तो इन टुकड़ो को रख दिया, फिर भी एक शेष रहता है।"

गान्धारी ने कहा—"इसे भी एक घृत भरी नॉद मे रख दो और भली-भॉति ढॅक दो।" धाय ने ऐसा ही किया।

दो वर्ष के अनन्तर पहला घड़ा खोला गया। उसमे से एक बडा हृष्ट-पुष्ट बालक उत्पन्न हुआ। उसका नाम दुर्योधन रखा गया। तदनन्तर क्रम-क्रम से एक-एक दिन के पश्चात् सभी घड़े खोले गये। उनमे से सौ पुत्र और एक दुःशला नाम की कन्या निकली। दुःशला का विवाह जयद्रथ के साथ हुआ। ये दुर्योधनादि सभी बड़े बली और मानी थे। इनके पुत्र हुए, किन्तु वे सबके सब महाभारतीय युद्ध मे मारे गये। इसलिये धृतराष्ट्र का वश तो आगे चला नहीं, अब मैं पाण्डु के वश का वर्णन करता हूँ।

महाराज पाण्डु बड़े मृगया प्रेमी थे। इन्हे राज्य-सुखभोग अच्छे नहीं लगते थे। वे राज-पाट अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र को सौंपकर अपनी दोनों पत्नियो को साथ लेकर पर्वत पर चले गये। ये वहॉ बदरीनारायण के समीप के पर्वत शिखरो पर आनन्द के साथ विहार करने लगे। वहाँ उन्होंने एक शिव की स्थापना की,

जो अद्यावधि बद्रीनारायण से नीचे पाण्डुकेश्वर के नाम से विख्यात है। उनसे ऊपर पर्वत के सात शृङ्ग हैं। देवताओं का निर्मित एक हिमकुण्ड है। लोकपालों द्वारा बनाये जाने से वह तीर्थ लोकपाल तीर्थ के नाम से विख्यात है। महाराज पाण्डु शापवश स्वयं तो सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ नहीं थे। उन्होंने देवताओं से अपनी दोनों रानियों में पाँच पुत्र उत्पन्न कराये।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज पाण्डु को किसने शाप देकर सन्तान उत्पन्न करने के अयोग्य बना दिया? देवताओं से कुन्ती-माद्री ने कैसे पुत्र उत्पन्न कराये?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज सुनिये। एक बार महाराज पाण्डु ने वन में शिकार करते एक मृग को मृगी के साथ सगम करते देखा। छिपकर महाराज ने दो बाण मारकर उन्हें घायल कर दिया। बाण लगते ही वे विकल होकर भूमि पर गिर पड़े। उस समय मृग मानवी वाणी में बोला—"राजन्! आपने हमें मारकर घोर पाप किया है। मैं वास्तव में मृग नहीं था, किन्दम नाम का ऋषि था। योग बल से मृगी बनी अपनी पत्नी में गर्भाधान कर रहा था।"

राजा ने विनय के साथ कहा—'ब्रह्मन्! मुझे तो पता नहीं था कि आप ऋषि हैं।"

मृग ने कहा—"मृग को भी ऐसे छिपकर न मारना चाहिये।"

राजा ने कहा—"भगवन्! मृगया के नियमों में यह कहीं नहीं है। पशु असावधान हो, सो रहा हो, बैठा हो, राजा उसे घेरकर, छिपकर, छलकर—जैसे चाहे, मार सकते हैं।"

मृग ने कहा—"देखिये! मैथुन का समय प्राणिमात्र के लिये अत्यन्त हितकर, सुखकर तथा प्रिय है। उसमें जो विघ्न डालता है, उसे पाप लगता है। मैं सन्तति की कामना से अपनी भार्या

मे गर्भाधान कर रहा था। मेरी अभिलाषा पूर्ण भी नहीं हुई थी, कि आपने बीच मे ही आकर हम दोनो के आनन्द को नष्ट कर दिया। आपने मृग रूप मे हमे मारा है। अतः आपको ब्रह्म-हत्या तो लगेगी नहीं, किन्तु मैं शाप देता हूँ कि जब भी आप अपनी पत्नी मे मैथुन करने में प्रवृत्त होगे, आपकी भी यही दशा होगी, आप भी तत्क्षण मर जायँगे। आपकी पत्नी भी मृगी के सदृश आपके साथ सती हो जायगी।" ऐसा शाप देकर वे मृग-रूपधारी ऋषि अपनी पत्नी-सहित स्वर्ग सिधार गये। राजा को इससे दुःख हुआ। उन्होंने स्त्री-संग सर्वदा के लिये त्याग दिया।

महाराज पाण्डु को मृग की बातों से बड़ा वैराग्य हुआ। वे राजपाट छोड़कर दोनो पत्नियों को लेकर लोकपाल पर्वत पर चले गये। वहाँ मुनियो के मुख से उन्होंने सुना, कि जिसके पुत्र नहीं होते हैं, उनको स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती, उनके पितर दुःखी होते हैं। तब महाराज को वन मे पुत्र की इच्छा उत्पन्न हुई। स्वय तो वे पुत्र उत्पन्न कर नहीं सकते थे, उन्होंने कुन्ती से ऋषियों द्वारा पुत्र उत्पन्न कराने को कहा। कुन्ती ने यह बात स्वीकार नहीं की। तब उसने दुर्वासा ऋषि से बाल्यकाल मे प्राप्त देवहूती विद्या की बात बतायी।

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए महाराज पाडु ने कुन्ती को देवताओं को बुलाने की अनुमति दी। पति की आज्ञा पाकर कुन्ती ने क्रमशः धर्म, वायु और देवेन्द्र का आह्वान किया। उन देवों ने आकर योगमूर्ति धारण करके कुन्ती के गर्भाधान किया। इससे क्रमशः उनके वीर्य से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन—ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए।

इतने पर भी महाराज ने पुनः किसी देवता को बुलाकर और पुत्र उत्पन्न करने को कहा। इस पर कुन्ती ने कहा—"महाराज!

आपत्ति काल मे भी तीन पुत्रों से अधिक इस प्रकार उत्पन्न न कराने चाहिये। अपने पति से चाहे जितने पुत्र हो। अब मैं अन्य किसी देव का आवाहन नहीं कर सकती।"

तब महाराज ने कहा—"अच्छा, इस माद्री के लिये भी किसी देवता का आह्वान करो।"

कुन्ती ने माद्री से कहा, माद्री ने अश्विनीकुमारो का आह्वान किया। उनसे उसके परम रूपवान नकुल और सहदेव—दो पुत्र हुए। इस प्रकार पाँचो पांडवो का जन्म पांडुकेश्वर से ऊपर लोकपाल के पर्वतों पर हुआ था। अब तक वहाँ पाडवों के नाम से बहुत से पर्वत, झरने, ग्राम, तालाब तथा शिलाएँ प्रसिद्ध हैं। हिमालय मे, विशेषकर गन्धमादन पर्वत के निकट, पग-पग पर पाण्डवों के स्मृति-चिन्ह दृष्टिगोचर होते हैं। पाँचो पाण्डवो को देखकर महाराज पाडु परम प्रमुदित हुए। शनैः-शनैः बालक बढने लगे। वे बालक ऋषियो के ही आश्रमो मे उत्पन्न हुए थे, ऋषियो ने ही उनके जात-कर्म आदि सस्कार किये। देखने में वे देवकुमार ऋषियो के से ही पुत्र दिखाई देते थे।

लोकपाल पर्वत संसार मे सबसे रमणीय स्थान है। उसकी घाटी मे सेकडो प्रकार के पुष्प अपने-आप उत्पन्न होते हैं। प्रकृति देवी वहाँ परदा नहीं करती, क्योंकि वह जन शून्य अत्यन्त ही एकान्त स्थल हे। ऋतुराज वसत मे शोभा-देवी वहाँ सोलहो शृङ्गार करके विचरण करती हे, प्रकृति नग्न होकर नृत्य करती हे। वन-श्री मारे हर्ष के फूल जाती हे। पुष्पों की सुगन्धि से दशों दिशायें सुवासित हो जाती हैं। शाल, ताल, तमाल, रसाल, पनस आदि के लम्बे-लम्बे वृक्ष वहाँ प्रहरियों की भाँति सजे धजे खडे हो जाते हैं। झरने झर झर करके गान गाते हैं। वह भू-स्वर्ग हे। लोकपाल वहाँ नित्य ही आते हैं। स्थान स्थान पर रग बिरगे स्थल

कमल खिल जाते हैं। हिमकुण्ड देवताओं का बनाया हुआ है। अद्यावधि भी उसमें इतनी स्वच्छता रहती है, कि एक तिनका भी उसमें नहीं रह सकता।

महाराज पाण्डु को वह स्थान अत्यन्त ही रुचिकर था। अब के भी प्रति वर्ष की भाँति वसन्त आया। महाराज पाण्डु अपनी छोटी पत्नी माद्री के साथ वन विहार के लिये निकले। वसे तो प्रायः कुन्ती सदा उनके साथ रहती थी, किन्तु उस दिन दैवयोग से कुन्ती बच्चों की देख रेख में रही, माद्री अकेली ही महाराज के साथ थी।

माद्री अत्यन्त ही सुन्दरी और अभी युवती थी। निरन्तर पार्वत्य प्रान्त में रहने से उसका सौन्दर्य और निखर गया था। स्वय वह पर्वत प्रान्त की थी। उस दिन उसने वैसे ही फूलों का शृंगार किया था। शुभ्र महीन रेशमी साड़ी पहने वह साक्षात् रति के समान प्रतीत होती थी। महाराज उसके साथ वन की शोभा निहारते हुए इधर से उधर घूम रहे थे। सहसा एकान्त पाकर उनकी काम-वासना उद्दीप्त हो उठी। साथ-साथ घूमने वाली माद्री के रूप ने तो घृत में अग्नि-कार्य किया। महाराज अपने आपे मे न रह सके। माद्री ने ऋषि शाप का स्मरण दिलाया, बहुत कुछ अनुनय विनय की, बल प्रयोग भी किया, धर्म का रहस्य भी समझाया, किन्तु सब व्यर्थ ! काम के वेग ने विचारवान राजा की बुद्धि भ्रष्ट कर दी। परिणाम जो होना था, वही हुआ। महाराज उसी क्षण मर गये। माद्री ने पड़े ही पड़े कुन्ती को पुकारा। कुन्ती दौड़ी आई, आकर रोने लगी।

कुन्ती ने स्वय सती होने की इच्छा प्रकट की, किन्तु माद्री, ने कहा—"तुम बड़ी हो, मैं छोटी हूँ। मेरे कारण ही महा[illegible] की मृत्यु हुई है। अतः मुझे ही सती होने दो।" कुन्ती ने

प्रार्थना स्वीकार कर ली। माद्री अपने दोनों पुत्रों को कुन्ती को सौंपकर पति के साथ सती हो गई। उस दिन से कुन्ती पाँचो को ही अपना पुत्र मानतीं। वे पाँचों भाई भी अपने को सगा भाई समझते। ऋषियों ने कुन्ती-सहित उन पाँचो पुत्रों को हस्तिनापुर में पहुँचा दिया। देवव्रत भीष्म ने उन पाँचों का पुत्रवत् पालन किया। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र और पांडु के ये पाँच पुत्र साथ ही खेलने-कूदने और बढने लगे। अन्त में राज्य के लिये परस्पर झगडा हुआ। धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि कहते थे, राज्य पर हमारा अधिकार है, हम बड़े के लड़के हैं। पांडव कहते थे, तुम्हारे पिता ही जब अंधे होने से राज्य के अधिकारी नहीं हुए, तब तुम कैसे हो सकते हो। राज-पुत्र होने से हम ही राज्य के अधिकारी हैं। अन्त में इसी बात पर महाभारत हुआ। धृतराष्ट्र के सभी पुत्र पौत्र उस महासमर में मर गये। श्रीमन्नारायण की कृपा से पाँचों पांडव बच गये। उनके भी बहुत से पुत्र हुए। सब के सब युद्ध में मारे गये। केवल अभिमन्यु की स्त्री के गर्भ में परीक्षत् ही शेष रहे। उन्हीं से पांडवों का वंश चला। मुनियो! अब मैं आपको पांडवों के पुत्रों की ही कथा सुनाता हूँ। आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

भये धरम तैं धरमराज वृक उदर बायु तैं।
पार्थ इन्द्र तैं जने पृथा ने परम चाव तैं॥
नकुल और सहदेव अश्विनी कुमर भिषक्वर।
माद्री तैं उत्पन्न करे दोऊ सुत सुन्दर॥
पाँचहुँ की पत्नी भई, द्रुपदसुता अति सुन्दरी।
पूर्व जन्म को वृत्त सुनि, आपत्ति काहू नहिँ करी॥

द्रौपदी से पाँचों पांडवों के पाँच पुत्र

[७६१]

द्रौपद्यां पञ्च पञ्चभ्यः पुत्रास्ते पितरोऽभवन् ।
युधिष्ठिरात्प्रतिविन्ध्यः श्रुतसेनो वृकोदरात् ॥
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः ।
सहदेवसुतो राजञ्छ्रुतकर्मा तथापरे ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २२ अ० २८-२९ श्लो०)

छप्पय

धमराज प्रतिविन्ध्य पुत्र तामें प्रकटायो ।
भीम पुत्र श्रुतसेन द्रौपदी देवी जायो ॥
अर्जुन तें श्रुतकीर्ति नकुल तें सतानीक सुत ।
श्रुतकर्मा सहदेव-तनय अति भये धरमयुत ॥
अश्वत्थामा सबनिके, काटे सिर सोवत शिबिर ।
अन ब्याहे सब ही मरे, चल्यो वंश तिन को न फिर ॥

धर्म तत्वज्ञ त्रिकालदर्शी महापुरुष, भूत-भविष्य की सब बातें सोचकर ही, किसी घटना के विषय में निर्णय करते हैं।

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! पाँचों पाडवो से द्रौपदी द्वारा तुम्हारे पाँच पितृव्य उत्पन्न हुए। उनमे युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीमसेन से श्रुतसेन, अर्जुन से श्रुतिकीर्ति और नकुल से सतानीक तथा सहादेव से श्रुतकर्मा का जन्म हुआ।"

हम सब प्रारब्ध के अधीन होकर सब चेष्टाएँ कर रहे हैं। हमारा किसी से जो सम्बन्ध होता है, हम तो समझते हैं, वह सहसा जुट गया। किन्तु उसका सम्बन्ध पूर्वजन्म की घटनाओं से होता है।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! अब मैं पाडवों के वश का वर्णन करता हूँ। हाँ, तो जब पाडव कुछ बडे हुए, तो दुर्योधनादि कौरव उनसे स्वाभाविक ही द्वेष करने लगे। दुर्योधन ने अपने दुष्ट भाइयो और मंत्रियों की सम्मति से वारणावत में एक लाख का घर बनवा कर उसमें कुन्ती सहित पाडवों को जलाने का षडयन्त्र रचा। जब वे सो रहे थे, तभी इसके दूतों ने उसमें आग लगा दी। विदुरजी की कृपा से पाडव एक सुरग द्वारा सुरक्षित वन में आ गये और फिर वे भिक्षावृत्ति पर निर्वाह करते हुए समय की प्रतीक्षा करने लगे। उसी समय उन्होंने द्रौपदी के स्वयम्वर की बात सुनी। उसमें यह पण था कि जो आकाश में टॅगी घूमती हुई मछली को बाण से बेध देगा, उसी के साथ द्रौपदी का विवाह होगा। अर्जुन ने उस लक्ष्य को बेध किया। अतः द्रौपदी उन्हीं के साथ चल दी। कुन्ती एक कुम्हार के घर ठहरी थी। पाडवों ने द्वार पर से ही कहा—"माँ ! आज हम बडी सुन्दर भिक्षा लाये हैं।"

कुन्ती ने भीतर से कहा—"अच्छी बात है, भैया ! तुम पाँचों इसे बाँट लो।"

अब उसने द्रौपदी को देखा, तब तो उसे दुःख हुआ और बोली—"भैया मेरा वचन मिथ्या न होने पावे, तुम पाँचों ही इस सुन्दरी कुमारी से विवाह कर लो।" इस बात का धर्मराज ने तो समर्थन किया, किन्तु द्रुपद, धृष्टद्युम्न आदि सभी ने विरोध किया, अन्त में व्यास भगवान् ने आकर द्रुपद को समझाया—

"राजन! आप चाहें, न चाहें, भवितव्यता ऐसी ही हे। द्रौपदी के पाँच ही पति होंगे! कई जन्मों के इसे ऐसे ही वर प्राप्त हैं। पूर्व जन्म में यह एक ऋषि-कन्या थी। इसे अपने अनुरूप कोई पति नहीं मिला। इसलिये इसने शिवजी की तपपूर्वक आराधना की। आशुतोष भगवान् भूतनाथ प्रसन्न हुए और उसके सम्मुख प्रकट होकर उससे वर माँगने को कहा, उसने व्यग्रता में भावी-वश शिवजी से पाँच बार कहा—"मुझे योग्य वर दीजिये, वर दीजिये, !"

इस बार शिवजी ने कहा—"भद्रे! तैंने पाँच वर माँगे हैं, इसलिये तेरे पाँच पति होंगे, फिर भी तू दोष का भागिनी न होगी। पतिव्रताओं में तेरा गणना होगी!"

व्यासजी महाराज द्रुपद को समझाते हुए कह रहे हैं—"राजन! यही कन्या आपके यहाँ अग्नि से उत्पन्न हुई। यह अयोनि-जा है। इसलिये पाँच पति होने पर भी इसे दोष न लगेगा।"

एक घटना और भी हे। एक बार देवराज इन्द्र ने गंगाजी में बहता हुआ एक सुवर्ण का कमल फूल देखा। उत्सुकता वश इन्द्र उसके उद्गम-स्थान को देखने चले। चलते-चलते वे बहुत दूर चढ गये। ऊपर क्या देखते हैं कि एक स्त्री बैठी रो रही है। उसके जो आँसू गिरते हैं, वे सुवर्ण कमल हो जाते हे। यह देख कर देवेन्द्र को दया आई और वे उससे पूछने लगे—"भद्रे! तू क्यों रोती हे?"

उसने कहा—"आप मेरे पीछे पीछे आवें। मैं इसका कारण बताती हूँ।" यह कह वह आगे आगे चलने लगी, इन्द्र उसके पीछे पीछे चलने लगे। कुछ दूर पर जाकर उन्होंने एक गुफा में एक बलिष्ट पुरुष को बैठे देखा। वह एक दूसरी स्त्री के साथ

मनोविनोद के निमित्त कुछ क्रीडा कर रहा था। इन्द्र को देखकर वह पुरुष बिना इन्द्र की ओर देखे अपनी प्रिया के साथ खेलता रहा। इन्द्र ने उस पुरुष का अपमान किया। तब उस पुरुष ने उसे एक गुफा में ले जाकर बन्द कर दिया। उस गुफा में चार ऐसे ही दिव्य पहले से बन्द थे। इन्द्र तो अब भयभीत हुए। वे समझ गये, ये देव देवेश भगवान् वृषभध्वज हैं। अतः वे गिड़-गिड़ाने लगे। इन्द्र की विनती सुनकर पार्वती पति बोले—"देखो, देवेन्द्र! ये चारों भी इन्द्र हैं। तुमने मेरा अपमान किया है। अतः तुम पाँचों को पृथ्वी पर मनुष्य बनकर उत्पन्न होना होगा। यह अकेली तुम पाँचों की पत्नी होगी।"

तब उन पाँचों ने कहा—"प्रभो हम पृथ्वी पर यदि उत्पन्न हों, तो धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनी कुमारों के द्वारा उत्पन्न हों।"

शिवजी ने कहा—"ऐसा ही होगा। ये नये इन्द्र साक्षात् प्रकट न होकर अपने अंश से उत्पन्न हों। तुम चारों इन्द्र, धर्म, वायु और अश्विनी कुमारों द्वारा उत्पन्न होगे।"

व्यासजी ने द्रुपदजी से कहा—"राजन्! ये वे ही पाँचों इन्द्र पाँच पाडव हैं। यह वही देवी है। इसके ये ही पाँच पति होंगे।"

जब व्यासजी ने इस प्रकार व्यवस्था दे दी और दिव्य दृष्टि से पाण्डवों का इन्द्ररूप दिखा दिया। तब द्रुपद ने द्रौपदी का विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ कर दिया। द्रुपद के यहाँ विवाह होने पर तथा समझाने बुझाने पर धृतराष्ट्र ने आधा राज्य पाण्डवों को दे दिया और वे पाँचों भाई इन्द्रप्रस्थ में अपनी राजधानी बनाकर रहने लगे।

धर्मराज युधिष्ठिर की सभा में नारदजी ने आकर उनसे कहा—"राजन! आप पाँचों भाइयों की एक ही पत्नी है। अतः

अपना समय बाँध लो। देखो, एक तिलोत्तमा के पीछे सुन्द और उपसुन्द में ऐसी लड़ाई हुई कि दोनों मर गये।

नारदजी का उपदेश मानकर पाँचों भाइयो ने यही निर्णय किया कि प्रत्येक भाई नियमित समय तक बारी-बारी से द्रौपदी के समीप रहेगा। यदि कोई भाई एकान्त मे द्रौपदी के समीप हो और उस समय दूसरा भाई चला जाय, तो उसे बारह वर्ष वनवास करना होगा। एक बार जब युधिष्ठिर द्रौपदी के साथ एकान्त में थे, तब अर्जुन को ब्राह्मण की गौओ की रक्षा के निमित्त अपना धनुष-बाण लेने उसी भवन मे जाना पड़ा। इसके प्रायश्चित-स्वरूप उन्होने बारह वर्ष वनवास किया। उसमें इन्होने कई विवाह भी किये।

कालान्तर मे पाँचो भाइयो के वीर्य से द्रौपदी मे पाँच पुत्र हुए। महाराज युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीमसेन से कुमार श्रुतसेन, अर्जुन से पराक्रमी श्रुतकीर्ति, और नकुल तथा सहदेव के द्वारा सतानीक और श्रुतकर्मा, नामक पुत्रो का जन्म हुआ। इस प्रकार द्रौपदी के पाँच प्यारे पुत्र थे। इन्होने द्वारका मे रहकर अस्त्र-शस्त्र विद्या सीखी थी। ये जब विवाह योग्य हुए, महाभारत छिड़ गया। उसमे ये पाँचो बड़ी वीरता के साथ लड़े। महाभारत के युद्ध के अन्त तक ये जीवित रहे।

अन्त में गुरुपुत्र अश्वत्थामा ने सोते हुए इन पाँचों सुकुमार राजकुमारो का पशुओं की भाँति वध कर दिया, जिससे कौरवो की भाँति पांडवो के वंश का भी सर्वनाश हो जाय। किन्तु भगवान् को तो पांडव वश की रक्षा करनी थी। अतः अर्जुन की द्वितीय पत्नी से जो अभिमन्यु नामक सुत था, उसकी पत्नी गर्भवती थी। उसी से पांडवो का वंश चला।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! पांडवो की द्रौपदी के अतिरिक्त

और कितनी पत्नियाँ थीं ? उनके कितने पुत्र हुए ? इस प्रसंग को कृपा कर हमें और सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज ! अब मैं पाण्डवों के अन्य पुत्रों की कथा आपको सुनाता हूँ। आप श्रद्धा सहित श्रवण करें।"

छप्पय

धर्मराज की पत्नि पौरवी तैं सुत देवक।
भीम घटोत्कच करयो हिडिम्बा महँ सुत सेवक॥
दूसरि काली माँहिं सर्वगत सुत प्रकटाये।
श्री सहदेव सुहोत्रकुमर विजया ने जाये॥
नकुल करेणुमती उदर, तैं कीन्हें नर मित्र सुत।
अर्जुन रानी तीनि तैं, भये तीनि सुत विनय युत॥

पांडवों के अन्य पुत्र तथा भीमसेन के घटोत्कच

[७६२]

युधिष्ठिरात्तु पौरव्यां देवकोऽथ घटोत्कचः ।
भीमसेनाद्धिडिम्बायां काल्यां सर्वगतस्ततः ॥*

(श्री भाग० ६ स्क० २२ अ० ३० श्लोक)

छप्पय

लाक्षागृह तैं भागि गहन वन आये पाडव ।
लखि हिडम्ब ने बहिन हिडम्बा तहँ पठई तब ॥
मारन आई स्वयं भीम लखि भई विमोहित ।
जान्यो भाव हिडम्ब भीम तैं भिड़्यो क्रूरचित ॥
द्वंद्व युद्ध भीषण भयो, भिड़े, भीम, भय नहिँ कर्यो ।
यातुधान को बल घट्यो, मरि धरनी पै गिरि पर्यो ॥

प्राचीन प्रथा थी कि, एक पुरुष बहु विवाह कर सकता था। राजाओं के यहाँ तो सहस्रों रानियाँ होती थीं। तब वसी शक्ति

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! द्रौपदी से पाँचो पाण्डवो के पाँच पुत्रो के अतिरिक्त युधिष्ठरजी से पौरवी नाम्नी पत्नी म देवक पुत्र हुआ। हिडम्बा राक्षसी म भीमसेन से घटोत्कच और दूसरी काली नाम्नी पत्नी से उनके सर्वगत नामक पुत्र हुआ।"

सामर्थ्य थी विवाह करना एक परम धर्म माना जाता था। धर्म-पूर्वक ही कामोपभोग की आज्ञा थी। कामवश होकर भी राजा विवाह कर लेते थे, किन्तु विद्वानों में उसकी प्रशंसा नहीं थी। धर्मपूर्वक निज पत्नी मे उत्पन्न हुआ पुत्र ही पिता का उत्तराधिकारी माना जाता था। धर्महीन काम व्यभिचार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! द्रौपदी तो पाँचों पांडवों की पत्नी थी। द्रौपदी के अतिरिक्त पाँचों भाइयों के और पत्नियाँ थीं, जैसे महाराज युधिष्ठिर की एक पत्नी पौरवी थी, जिसके गर्भ से देवक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। भीमसेन की काली नाम्न पत्नी थी, उससे सर्वगत नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। सहदेव की पर्वत कन्या विजया थी, जिससे सुहोत्र नामक सुत हुआ और नकुल की करेणुमती नाम्नी पत्नी से नरमित्र नामक पुत्र हुआ। भीमसेन की एक हिडम्वा नाम की राक्षसी पत्नी थी और अर्जुन के उलूपी, मणिपूरया और सुभद्रा नाम की तीन पत्नियाँ थीं। इन तीनों का विवाह उन्होंने बारह वर्ष के वनवास के समय किया था। भीमसेन की हिडम्वा राक्षसी पत्नी के घटोत्कच नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भीमसेन ने राक्षसी से विवाह क्यों किया ?"

यह सुनकर सूतजी ने कहा—"महाराज! अपनी माताजी की आज्ञा से भीमसेन ने राक्षसी से विवाह किया था। यह विवाह जैसे हुआ उसे मैं सुनाता हूँ।"

भीमसेन अपने भाइयों में सबसे अधिक बली थे। वे बड़े ही हृष्ट-पुष्ट थे, सिंह के समान उनके कंधे थे। दश सहस्र हाथियों के बराबर उनमे बल था। वे लाक्षागृह से छिपकर भागने पर वन में अपनी माता तथा भाइयों को पीठ पर विठा कर ले जाते थे। पर दिन भर चलते-चलते वे भी थक गये। माता तथा

और सब भाई तो थककर पडते ही एक पेड के नीचे गहरी निद्रा में सो गये, किन्तु भीमसेन जागकर पहरा दे रहे थे।

उस वन मे हिडम्बा नामक एक नर-मास भोजी राक्षस रहता था। वह वन उसी के नाम से विख्यात था। जो कोई उस वन मे जाता था, उसे तुरन्त मारकर हिडम्ब खा जाता था। नर मास की गध आते ही उसके मुख में पानी भर आया। ओठों को चाटता हुआ लालच भरी दृष्टि से माता सहित पाडवों को देख वह घने वृक्षों के मध्य एक वडे वृक्ष पर चला गया।

वहॉ जाकर उसने अपनी युवती बहन हिडम्बा से कहा—"हिडम्बे! इधर कई दिनों से मुझे मनुष्य मास खाने को नहीं मिला। प्रारब्धवश आज पॉच-छः मनुष्य यहॉ आ गये हैं। वे वडे ही मोटे हैं। उनकी त्वचा भी चिकनी और कोमल है। मैं अपने तादृए दॉतों को उनके गुदगुदे मास मे चुभोकर इनके रक्त को पेट भर पाऊँगा। ये कोई राजकुमार जान पडते हैं। इनके साथ एक बुढिया भी है। तू जा, देख आ, ये कौन हैं। और सब तो सो रहे हैं, एक बलवान जाग रहा है। या तो तू ही जाकर सबको मार ला। यदि उचित समझे तो मुझे भी बुला लेना।"

हिडम्बा तुरन्त वहॉ गई, जहॉ पाण्डव सो रहे थे। केवल भीमसेन पहरा दे रहे थे। भीम कृष्ण वर्ण होने पर भी अत्यन्त ही रूपवान थे। हिडम्बा यद्यपि क्रूरकर्म करने वाली राक्षसी थी, किन्तु काम ने उसकी क्रूरता और क्रोध दोनो को नष्ट कर दिया। वृषभ के समान उन भीम को देखकर वह ऋतुमती गौ के समान बन गई। काम ने उसके अङ्ग अङ्ग में मादकता उत्पन्न कर दी। अब वह भाई की बात भूल गई अपनी इच्छा-पूर्ति के चक्कर में पड गई। वह काम-रूपणी राक्षसी थी, इच्छानुसार अपना रूप बदल, बना सकती थी। उसने सकल्प मात्र से

अत्यन्त सुन्दरी मानवी स्त्री का रूप बना लिया। सोलहो शृंगार करके, वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर, कटिकी कर्धनी, करके ककण और पैरों के नूपुर बजाते भीमसेन के समीप गई और अत्यन्त ही दीन वाणी में बोली—"हे देव! आपके द्वार पर एक भिखारिनी खड़ी है। क्या उसे आप काम-भीख देंगे?"

भीमसेन ने चौंककर पूछा—"सुन्दरि! तुम कौन हो? इस अर्धरात्रि में ऐसे बीहड वन मे क्यों आई हो? मुझसे क्या चाहती हो?"

हिडम्बा ने कहा—"हे नरनाथ! मैं राक्षसी हूँ। यह वन मेरे भाई हिडम्ब का है। यहाँ जो भी आता है, उसे मेरा भाई खा जाता है। तुम्हें भी खाने के लिये उसने मुझे भेजा है।"

भीमसेन ने गरजकर कहा—"आ, खा तू मुझे पकड, देखूँ तेरा राक्षसोपन?"

हिडम्बा ने दीनता के साथ कहा—"प्राणनाथ! आपने तो अपने रूप-मंत्र का मेरे ऊपर जादू कर दिया है। मैं आपको पकडने आई थी, पर मैं ही पकडी गई। आप मुझे अपनी भार्या बना लें।"

भीमसेन ने कहा—"मैं इतनी लब-तडगी बहू को लेकर क्या करूँगा?"

हिडम्बा ने कहा—"आप जैसी चाहेंगे, मैं वैसी ही बन जाऊँगी।"

भीमसेन हँसकर बोले—"यदि तू साँपिनी बन गई तो?"

हिडम्बा ने कहा—"नरनाथ! आप मुझ अबला पर दया करें। मुझसे हँसी ठट्ठा न करें। मेरा भाई आ जायगा, तो वह आप सबको मार देगा। जब तक वह न आवे, आप सब मेरी पीठ पर चढकर भाग चलें। मैं इच्छानुसार रूप बना सकती हूँ,

आकाश मे उड सकती हूँ, जितना चाहूँ बोझ ले जा सकती हूँ। आप देर न करें। अपने भाइयो और माता के सहित मेरे ऊपर चढ़ लें।"

भीमसेन बोले—"भामिनि! डरना और भागना तो मैंने सीखा ही नहीं। तुझसे या तेरे भाई से मैं डरता नहीं। तू अपने भाई को बुला ला।"

हिडम्बा बोली—"जीवनधन! मैंने तो अपना तन, मन सर्वस्व आपके चरणो मे अर्पण कर दिया है। आप अपनायेंगे, तो मैं आप की चरण-सेवा करूँगी, ठुकरायेंगे तो यहीं आत्म-हत्या करके आपके सम्मुख ही प्राण त्याग दूँगी।"

हिडम्बा यह कह रही थी, कि इतने मे ही नर-मास का लोभी हिडम्ब देर होते देख स्वय ही आ गया। उसने हिडम्बा की बात सुन ली और अपनी बहन को मानवीय रूप मे अत्यन्त सुन्दरी वेश मे देखकर क्रोधित हो गया। उसने गरजकर कहा—"दुष्टे! तूने राक्षसो के सदाचार के विरुद्ध कार्य किया है। राक्षस उपदेव होते हैं, मनुष्यो की स्त्रियो से संगम भले ही कर लें किन्तु वे अपनी लडकियाँ मनुष्यो को नहीं देते। तू राक्षसी होकर एक पुरुष पर आसक्त हो गई है? अच्छी बात है, मैं तेरे इस प्रेमी को मारूँगा, फिर तुझ कुल-कलकिनी को भी यमद्वार पठाऊँगा।" यह कहकर वह भीमसेन पर प्रहार करने दौडा।

भीमसेन तो इसके लिये तैयार ही थे। दोनो मे गुत्थमगुत्था होने लगी। वह उसको मारता, वह उसे ललकारता। दोनो मे गुत्थमगुत्था, मुक्कामुक्की, तडापडी, पटकापटकी, हाथापाही होने लगी। पाण्डव भी जाग पड़े। उन्होने सामने देव कुमारी के समान बनी-ठनी हिडम्बा को देखा। कुन्ती ने पूछा—"बेटी! तू कौन है?"

उसने कहा—"अम्माजी! मैं तुम्हारी बहू हूँ।"

कुन्ती ने कहा—"अरी, बेटी! रात ही रात तू मेरी बहू कैसे बन गई? मेरे किस बेटे की तू बहू है?"

उसने कहा—"मैं तुम्हारे मझले बेटे की बहू हूँ।"

कुन्ती ने भयभीत होकर पूछा—"तो, मेरा वह बेटा कहाँ गया?"

उसने कहा—"सासजी! मेरा भाई राक्षस हिडम्ब है। वही उनसे लड रहा है।"

इतना सुनते ही माँ रोने लगी। अर्जुन ने कहा—"अम्मा! अरे, तू कैसी बात कर रही है? तेरे बेटे को राक्षस क्या यमराज भी नहीं मार सकते। देखूँ तो सही, वह कैसा राक्षस है।" यह कहकर अर्जुन तुरन्त दौडे। धर्मराज, नकुल, सहदेव भी पीछे चले। माँ भी उठकर वहाँ पहुँची। सबने देखा कि दोनों में घोर युद्ध हो रहा है, वह वन के सहस्रों बडे बडे वृक्ष टूट टूटकर चकनाचूर हो रहे हैं, दोनों ही लम्बी लम्बी साँस ले रहे हैं। भीम सेन उसे नीचे पटककर रगड रहे हैं। हँसकर अर्जुन ने कहा—"दादा! कहो तो मैं भी तुम्हारी सहायता करूँ।"

भीम ने कहा—"तू खडा-खडा तमाशा ही देख। मैं अभी इसका कचूमर निकाले देता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"अजी, रहने भी दो दादा! कब से खिलवाड कर रहे हो? मैं होता तो अब तक इसका भरता बना देता।"

भीम ने हँसकर कहा—"अरे, तू भरता ही बनाता, देख मैं इसकी चटनी बना रहा हूँ। तू मेरे पास मत आना।"

हँसकर अर्जुन ने कहा—"नहीं, दादा! मैं इसे मारने में ही आपका हाथ बँटाऊँगा।"

भीमसेन यह सुनकर हँस पडे और बोले—"अच्छा, देख मैं

अभी इसे यमपुर पठाता हूँ।" यह कहकर उन्होंने उसकी कमर तोड़ दी, मारकर धड़ाम से धरती पर पटक दिया।

तब तक अरुणोदय हो चला। अर्जुन ने कहा—भैया, शीघ्रता करो। यदि हमें किसी ने देख लिया, तो बड़ा अनर्थ होगा! हमें छिपकर ही जीवन बिताना है।" इतना सुनते ही भीम अपने चारों भाइयों तथा माता को लादकर शीघ्रता के साथ चल दिया। हिडम्बा भी छम-छम करती उनके पीछे-पीछे चली।"

भीमसेन ने कहा—"क्यों री, राक्षसी की बच्ची! तू भी अपने भाई के मार्ग को जानना चाहती है क्या ?"

यह सुनकर हिडम्बा रोने लगी। किन्तु उसने उनका पीछा नहीं छोड़ा। तब धर्मराज ने कहा—"भीम! भैया, तू इस अबला को मत मारना। स्त्री के ऊपर धर्मात्मा लोग कभी भी प्रहार नहीं करते। यह हमारा क्या बिगाड़ सकेगी ?"

भीमसेन सबको लिये हुए सूर्यास्त के समय बहुत दूर पहुँचे। जब सब बैठ गये, तो युधिष्ठिर से घूँघट मारकर हिडम्बा कुन्ती के पास गई और जाकर रोते-रोते बोली—"माताजी! पुरुष-हृदय तो कठोर होता है। आप तो नारी-हृदय की व्यथा को जानती हैं। अपने प्रेष्ठ को न पाकर स्त्रियों को कितना महान कष्ट होता है, इसे स्त्रियाँ ही अनुभव कर सकती हैं। आप अपने पुत्र को आज्ञा दें, वे मुझे स्वीकार कर ले। नहीं तो मैं अभी यहीं प्राण त्याग दूँगी।"

हिडम्बा की ऐसी बात सुनकर कुन्ती को उस पर दया आई। उसने भीम से कहा—"भैया! तुम इसके साथ विवाह करलो।"

भीम ने कहा—"अम्मा! जब तक धर्मराज का विवाह न हो, तब तक मैं विवाह कैसे कर सकता हूँ ?"

इस पर धर्मराज ने कहा—"अरे, भैया! यह वैसा विवाह नहीं है। इस समय तो हमें आपद्धर्म का पालन करना है।

बिचारी प्राण दे रही है कोई पाप नहीं भैया! तुम हमारी आज्ञा से इसके साथ विवाह कर लो।"

भीमसेन ने कहा—"आप सबकी आज्ञा है, तो मैं विवाह किये लेता हूँ। किन्तु मैं तभी तक इसे साथ रखूँगा, जब तक इसके सन्तान न हो।"

यह बात हिडम्बा ने स्वीकार कर ली। कुन्ती ने कहा—"देख बेटी, दिन मे तू भीम को जहाँ चाहे ले जाया कर, किन्तु सायंकाल इसे यहाँ कर जाना।" यह सुनकर हिडम्बा बड़ी प्रसन्न हुई। वह भीम को दिन मे अपने ऊपर चढ़ाकर आकाश मे उड़ जाती। फिर सुन्दरी मानवी स्त्री का रूप रखकर वनों, उपवनो, पर्वतों गिरि-गुहाओं मे भीमसेन को घुमाती, उनके साथ आनन्द-विहार करती और सायंकाल होते ही उन्हे उनके आवास स्थान पर पहुँचा देती। इस प्रकार बहुत बहुत दिनो तक वह पांडुनन्दन वृकोदर के साथ दाम्पत्य सुख का उपभोग करती रही। कुछ काल के अनन्तर उसके गर्भ रहा और तुरन्त ही उसने बड़े ही डील-डौल का एक पुत्र उत्पन्न किया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हिडम्बा ने तुरन्त ही पुत्र कैसे उत्पन्न कर दिया? वर्ष दो वर्ष गर्भ में भी तो बालक रहा होगा?"

सूतजी ने कहा—"नहीं, महाराज! राक्षसियाँ गर्भ धारण करते ही पुत्र उत्पन्न कर देती हैं। उनके पुत्रों को भी बढ़ने मे समय की अपेक्षा नहीं होती। उत्पन्न होते ही वे युवा हो जाते हैं। इसीलिये हिडम्बा ने गर्भ धारण करते ही पर्वत-प्रान्त में पुत्र उत्पन्न किया। यद्यपि वह पुत्र पुरुष के वीर्य से राक्षसी में उत्पन्न हुआ था, किन्तु उसमे पुरुषो के-से एक भी चिह्न नहीं थे। देखने में वह भयकर प्रतीत होता था। अजन पर्वत के समान वह बड़े डील-डौल वाला तथा कृष्ण वर्ण का था। माता-पिता दोनों ने मिलकर उसका नाम घटोत्कच रखा। वह पैदा होते ही युवा हो गया। हाथ जोड़कर उसने माता-पिता को प्रणाम किया और कहा—"हे माताजी! हे पिताजी! मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?"

भीमसेन ने कहा—"बेटा ! तू अपनी माता का भली-भाँति पालन-पोषण करना, मनुष्यों को कष्ट मत पहुँचाना। मैं जब तेरा स्मरण करूँ, तब तू आ जाना।"

घटोत्कच ने अपने पिता की यह बात स्वीकार की। फिर उसने जाकर अपनी दादी कुन्ती और चारों चचों के पैर छूए। उन सबने पाण्डु के प्रथम पौत्र हिडम्बा-नन्दन घटोत्कच का सिर सूँघा उसे प्यार किया और आशीर्वाद दिये।

इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके भीमसेन ने हिडम्बा और घटोत्कच को विदा कर दिया। फिर वे एकचक्रा नगरी में जाकर रहने लगे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! हमें एक शंका है। जब राक्षस इच्छानुसार रूप रख सकते हैं, तब सदा मनुष्य रूप में ही क्यों नहीं रहते ? हिडम्बा सदा सुन्दरी स्त्री ही क्यों नहीं बनी रहती थी ? वह भीम को प्रसन्न करके विकराल राक्षसी क्यों बन जाती ?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! सौंदर्य की कोई परिभाषा तो है नहीं। अपना रूप सभी को अच्छा लगता है। लंका जीतकर जब श्रीरामचन्द्रजी पुष्पक विमान से लौट रहे थे, तब मार्ग में उन्हें किष्किन्धापुरी मिली। सीताजी ने सुग्रीव की स्त्रियों से मिलने की इच्छा प्रकट की। पुष्पक उतारा गया। वानरियों ने जब सुना कि जिस सीता के लिये इतना भारी समर हुआ, इतने रीछ-वानर मारे गये, वे यहाँ आई हैं, तो सब बड़ी उत्सुकता से जानकीजी के दर्शनों को आईं। जानकीजी के रूप को देख कर वे बड़ी प्रसन्न हुईं और आपस में कहने लगीं—"जानकीजी सुन्दरी तो हैं, किन्तु इनमें एक कसर है यदि इनके पूँछ और होती, तब और अच्छी लगतीं। पूँछ के बिना रुण्डी-मुण्डी क्या

अच्छी लगती हैं !" सो, महाराज ! सुन्दरता अपने मन से होती है। इसी प्रकार राक्षसों को अपना ही रूप प्रिय लगता है। हिडम्बा अपनी प्रसन्नता के लिये मानवी स्त्री नहीं बनती थी, केवल भीम को प्रसन्न करने को। दूसरी बात यह कि रूप ये असुर राक्षस माया से मानवीय बनाते हैं। माया निर्मित वस्तु बहुत समय तक टिकती नहीं। श्रीकृष्ण के सम्मुख शाल्व माया से वसुदेवजी का सिर काटकर लाया था, कुछ काल में वह विलीन हो गया। अतः मायावी रूप बहुत दिन टिक भी नहीं सकता। और राक्षसों के समाज में यह बात अत्यन्त निन्दनीय मानी जाती है, कि कोई राक्षस मनुष्य-रूप में रहे, जो चना-चबेना तथा फल-फूल के समान उनके भोज्य हैं।"

शौनकजी ने कहा—"हॉ, सूतजी ! आपका कथन सत्य है। जिस वस्तु में अपनापन हो जाता है, उसमे स्वाभाविक आसक्ति हो जाती है। सूअर से यदि कहें—तुम मरकर मनुष्य बन सकते हो, सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थ खाओगे, तो वह शूकर-शरीर और अपने निन्दनीय आहार त्यागने को कभी उद्यत न होगा। जैसे सभी को अपनी बनायी कविता सुन्दर लगती है, उसी प्रकार सभी को अपने वर्ण की देह सुन्दर और प्यारी लगती है। अच्छा यह बताइये, पाण्डवो ने फिर कभी घटोत्कच से कोई काम लिया या नहीं ? कभी उसे बुलाया या नहीं ?"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज ! जब कभी बोझ ढोने तथा लडने-भिड़ने का काम पडा, तब पाण्डवों ने घटोत्कच का स्मरण किया। वनवास के समय जब पाण्डव बदरीवन की यात्रा कर रहे थे, तब अत्यन्त ही सुकुमारी द्रौपदी हिमपूर्ण पर्वत-शिखरों पर चढ़ने मे असमर्थ होने के कारण मूर्छित होकर गिर गयी। इस पर नकुल, सहदेव तथा धर्मराज विलाप करने लगे। तब भीमसेन

ने कहा—"आप इतने अधीर क्यों हो रहे हैं? आप सबको मैं स्वयं कन्धे पर बिठाकर ले जा सकता हूँ। यदि आप कहें, तो घटोत्कच को बुला लूँ, आप सबको अपनी पीठ पर लादकर ले जायगा।"

धर्मराज ने कहा—"हाँ, भैया! घटोत्कच को ही बुलाओ। ऐसे समय वही काम आवेगा।"

धर्मराज की आज्ञा पाते ही भीमसेन ने हिडम्बानन्दन घटोत्कच का स्मरण किया। वह कामरूपी राक्षस वायु-वेग के समान अपने कई राक्षसों को लेकर वहाँ आ पहुँचा। उसने सबके पैर छुए, माता पिता को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर पूछा—"पिताजी! आपने किस लिये मेरा स्मरण किया है?"

भीमसेन ने कहा—"बेटा! तेरी यह माता बहुत थक गई है। इसे तू अपने कन्धे पर बिठाकर ले चल। हम सब तो पैदल चल लेंगे। पर इससे बरफ के कारण पैदल नहीं चला जा सकता।"

यह सुनकर घटोत्कच ने कहा—"पिताजी! मैं तो अकेले ही ब्राह्मणों-सहित आप सब को पीठ पर बिठाकर आकाश में उड़ सकता हूँ। फिर अब तो मेरे साथ बहुत से राक्षस भी हैं। माता जी को तो मैं उठाता हूँ। आप सब इन राक्षसों के कन्धों पर बैठ जायँ।"

इससे सभी को प्रसन्नता हुई। सभी भाई तथा धौम्यादि विप्रगण राक्षसों के ऊपर चढ़कर गन्ध-मादन पर्वत की शोभा देखते हुए बदरीवन पहुँचे। वहाँ भगवान् नर-नारायण के दर्शन करके सभी प्रमुदित हुए। बदरीवन में पहुँचकर पाण्डवों ने राक्षसों सहित घटोत्कच को आशीर्वाद देकर बिदा किया। आज-कल भी जब बड़े डीलडौल वाले पहाड़ी कण्डी में आदमियों को बिठाकर कन्धे पर लादकर बदरीनाथ की यात्रा में चलते हैं,

तव घटोत्कच के साक्षात् वंशज-से ही वे प्रतीत होते हैं। इस प्रकार हिडम्बानन्दन घटोत्कच ने पाण्डवों को मृत्यु मुख से बचाया।

दूसरी बार तो उसने अपने शरीर का बलिदान देकर अर्जुन की रक्षा की। कर्ण ने देवराज इन्द्र को प्रसन्न करके एक ऐसी 'शक्ति' प्राप्त की, जो कभी किसी दशा में भी व्यर्थ नहीं जा सकती थी। उसको उसने अर्जुन के वध के निमित्त रख छोड़ा था। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने उसे घटोत्कच के ऊपर छुड़वाकर व्यर्थ बना दिया। इससे घटोत्कच तो मर ही गया, किन्तु वीराग्रगण्य अर्जुन बच गये। यदि वह अर्जुन पर छोडी जाती, तो निश्चय ही उनकी मृत्यु ही जाती। महाभारत युद्ध का पाशा ही पलट जाता। किन्तु पलटता कैसे ? कराने वाले ने तो पहले से ही सब प्रबन्ध कर रखा था।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार भीमनन्दन हिडम्बा पुत्र घटोत्कच की कथा मैंने आपसे कही। अब मैं अर्जुन के पुत्रों की कथा आपसे कहूँगा।"

छप्पय

करी हिडम्बा बिनय दया कुन्ती कूँ आई।
आयसु दीन्हीं भीम राक्षसी बहू बनाई॥
ताहीतें सुत भयो घटोत्कच अति बलशाली।
इन्द्र-दत्त जो शक्ति कर्णकी कीन्हीं खाली॥
अर्जुन-बध हित सुरक्षित, रखी कर्णने यत्न करि।
वीर घटोत्कचकें लगी, लगत भूमिपै पर्यो मरि॥

—★—

अर्जुन के अन्य सुत

[७६३]

करेणुमत्यां नकुलो निरमित्रं तथार्जुनः।
इरावन्तमुलूप्यां वै सुतायां बभ्रुवाहनम् ॥
मणिपूरपतेः सोऽपि तत्पुत्रः पुत्रिकासुतः ॥*

(श्री भाग० ९ स्क० २२ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

इरावान सुत जन्यो उलूपीतैं अरजुनने।
दई पुत्रिकाधर्म सहित मणिपुर नरेशने॥
सुता ब्याहि प्रण कर्यो पुत्र जो पुत्री जावै।
सो होवै युवराज हमारो पुत्र कहावै॥
तासु गरभतैं अति बली, पुत्र बभ्रुवाहन भयो।
लखि रण-कौशल जासुको, विस्मित अर्जुन ह्वै गयो॥

पिता के अनुरूप ही पुत्र होता है। वीर्य्य का कुल का, सस्कारों का बालक के ऊपर प्रभाव पडता है। धर्म के तत्व को

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! नकुल से करेणुमती ने नरमित्र तथा अर्जुन ने नागकन्या उलूपी से इरावान् तथा पुत्रिका धर्म से विवाही मणिपूरपति की कन्या से बभ्रुवाहन नामक पुत्र उत्पन्न किया। वह उनका पुत्र अपनी माता के पिता का ही पुत्र कहलाया।"

जानने वाले मनीषियों ने पुत्र को पिता की आत्मा ही बताया है। यदि पुत्र पिता के अनुरूप नहीं, तो उसमे सस्कार, अदृष्ट तथा माता का दोष है। कुलागत सदाचार का पालन करते, धर्म पूर्वक जो पुत्र होता है, वही वीर्यज पुत्र श्रेष्ठ और पिता के अनुरूप होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं आपको अब सक्षेप मे अर्जुन के पुत्रों की कथा सुनाता हूँ, सुनिये। वनवास का अर्थ विदेशवास है, अर्थात् उसे अपनी नगरी छोड़कर पृथ्वी पर्यटन करना होगा। एक दिन युधिष्ठिर के रहते अपना धनुष लेने द्रौपदी के पास अर्जुन चले गये। वे जब ब्राह्मण की गायों को दस्युओं से छुडा लाये, तब उन्होंने कहा—"मुझे नियमानुसार बारह वर्ष ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए तीर्थ भ्रमण करना चाहिए।"

यह सुनकर धमराज ने कहा—"अरे भाई! कोई बात नहीं, तुम आवश्यक कार्य से गये थे। आपत्ति विपत्ति के समय मर्यादा का उल्लघन हो ही जाता है। वैसे तो कुछ दोष नहीं, यदि हो भी, तो उसके लिये मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ, तुम वनवास का विचार छोड दो।"

यह सुनकर अर्जुन ने कहा—"देव! धर्म म दम्भ करना दोष है। हम स्वार्थ वश अपनी प्रतिज्ञा का कुछ-का कुछ अर्थ लगावें, तो यह तो छल है, प्रवञ्चना है। इसलिये नियमों में शिथिलता न होनी चाहिये। शिथिलता होते ही नियम बिगड जाता है। अतः मुझे नियमानुसार बारह वर्ष के लिये इन्द्रप्रस्थ को छोड देना चाहिये।"

जब कुन्ती-नन्दन अर्जुन ने अत्यधिक आग्रह किया, तब धर्मराज ने अनुमति दे दी। बहुत से सेवक तथा वेदज्ञ ब्राह्मणों को साथ लेकर अर्जुन प्रथम उत्तरा खण्ड की ओर चले। गगा-

किनारे-किनारे के नगरों-ग्रामों को देखते हुए, वे उस कुशावर्त तीर्थ मे आये, जहाँ भगवती भागीरथी, अपने पिता हिमालय की गोद से उतरकर पृथ्वी पर पैर रखती हैं। उसे गंगाद्वार, हरद्वार, हरिद्वार तथा कुशावर्त क्षेत्र कहते हैं। उस स्थान की रमणीयता तथा प्राकृतिक शोभा देखकर अर्जुन परम प्रमुदित हुए, वहाँ कुछ दिन रह भी गये। एक दिन वे गंगा-स्नान कर रहे थे, कि वहाँ कौरव्य नामक नाग की कन्या उलूपी आई। वह देव कन्या थी, अत्यन्त सुन्दरी युवती थी कुमारी थी। इन्द्र-पुत्र अर्जुन को देख कर वह उस पर आसक्त हो गयी। वह तो पाताल की रहने ही वाली थी। जल मार्ग से ही तो वह पाताल मे जाती-आती थी। ज्यो ही अर्जुन ने जल मे डुबकी मारी, त्योंही वह अर्जुन को पकडकर पाताललोक ले गयी। अर्जुन डरने वाले तो थे ही नहीं। वहाँ के मणिमय भवन अत्यन्त प्रकाश-युक्त बहुत सी बहुमूल्य मणियों को देखकर वे विस्फारित नेत्रों से आश्चर्य के साथ इधर-उधर देखने लगे।

उन्होंने उलूपी से पूछा—"देवि! तुम मुझे यहाँ क्यों ले आयी?"

उलूपी ने कहा—"नरनाथ! मैं ऐरावत नाग के वश मे उत्पन्न कौरव्य नामक नाग की प्यारी पुत्री हूँ। मैं आपसे विवाह करना चाहती हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"देवि! नाग तो उपदेव होते हैं। उनका सम्बन्ध मनुष्यो से कैसे हो सकता है?"

उलूपी ने कहा "देव! आपको मनुष्य कौन कहता है? आप तो साक्षात् नरावतार हैं, देवराज इन्द्र के वीर्य से आप माता कुन्ती में उत्पन्न हुए हैं। आप तो देवकन्याओं के पति हो ही सकते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"देखो, मैं अपने भाइयो से द्वादश वर्ष के ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा करके आया हूँ।"

उलूपी ने कहा—"महाराज पर-पत्नी से सगम करने मे ब्रह्मचर्यव्रत का लोप होता है। मुझे आप अपनी पत्नी बना लें, विधिवत् मेरे साथ शास्त्रीय विधि से विवाह कर लें। इससे आपका व्रत भी खडित न होगा और मेरे प्राण भी बच जायेंगे, मैं आपसे सत्य की शपथ करके कहती हूँ, आप मुझे न अपनायेंगे तो मैं प्राण त्याग दूँगी, आत्मघात कर लूँगी। आपका नियम केवल अपनी पत्नी द्रोपदी के सम्बन्ध में है।"

अर्जुन ने कहा—"अच्छा, यदि यही बात है, तो बजे सहनाई, बने मण्डप, जले अग्नि, फिरे भॉवर।"

अर्जुन की अनुमति पाते ही विवाह की सभी सामग्रियाँ एकत्र की गईं। नागो ने अर्जुन का विवाह उलूपी के साथ कर दिया। एक दिन वहाँ रहकर और फिर अपनी नई बहू को लेकर अर्जुन अपने स्थान हरद्वार मे चले आये। वहाँ वे बहुत दिनों तक उलूपी के साथ रहे। जब उसके एक बच्चा हो गया, तब उसे उसके पिता के घर पहुँचाकर रमते राम अर्जुन आगे चल दिये। उत्तर के तीर्थ करके, वे पूर्व के तीर्थों की ओर चले। नेमिषारण्य, ब्रह्मावर्त प्रयाग, काशी तथा अंग, वग, कलिङ्ग देश के तीर्थों को करते हुए वे मणिपुर में पहुँचे। उन दिनो वहाँ महाराज चित्रवाहन राज्य करते थे। अर्जुन वहाँ के वनों पर्वतो मे और सरोवरो के तटों पर विहार करने लगे। वे एक दिन किसी सरोवर के तट पर बैठे थे। वहाँ उन्हे छम-छम की ध्वनि सुनाई दी। पीछे फिरकर उन्होंने देखा कि बहुत-सी युवतियाँ आ रही हैं। उनके आगे एक बहुत ही रूपवती युवती थी अर्जुन ने देखा आगे वाली युवती के अग-प्रत्यंग से सौन्दर्य छन-छनकर बाहर निकल रहा है। पूछ-ताछ

करने से अर्जुन को पता चल गया, कि यह मणिपूर-नरेश महाराज चित्रवाहन की परम सुकुमारी दुलारी इकलौती पुत्री है। अभी इसका विवाह नहीं हुआ है।

अर्जुन राजपुत्र थे, कुलीन थे, वीर थे, सुन्दर थे, निर्भय थे। उनके मन में वह कुमारी वस गयी। वे निर्भय होकर महाराज चित्रवाहन के समीप गये और वोले—"राजन! मैं राजपुत्र हूँ, क्षत्रिय हूँ।"

राजा ने पूछा—"कुमार! तुम किस राजा के पुत्र हो?"

अर्जुन ने कहा—"महाराज! मैं हस्तिनापुर के महाराज शन्तनु का प्रपौत्र, विचित्रवीर्य का पौत्र महाराज का पाण्डु का तीसरा पुत्र हूँ। धर्मराज युधिष्ठिर और भीमसेन मेरे बड़े भाई हैं, नकुल और सहदेव मेरे छोटे भाई। आप से एक वस्तु की याचना करने आया हूँ।"

राजा ने कहा—"कुमार! यह सम्पूर्ण राज्य तुम्हारा है। जैसे तुम पाण्डु के पुत्र हो, वैसे ही मेरे भी। कहो, तुम्हें किस वस्तु की आवश्यकता है?"

अर्जुन ने कहा—"महाराज! मैं आपकी कन्या के साथ विवाह करना चाहता हूँ।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए राजा ने कहा—"मेरा अहोभाग्य! आपके समान कुलीन, सदाचारी, विश्व-विजयी वीर मुझे अपनी पुत्री के लिये और कहाँ मिलेगा? किन्तु मेरी एक कुलागत प्रतिज्ञा है, उसका पालन आपको करना होगा।"

अर्जुन ने कहा—"वह क्या?"

राजा वोले—"इस सम्बन्ध मे एक इतिहास है। मेरे कोई पूर्व पुरुप प्रभञ्जन नाम के धर्मात्मा राजा हो चुके हैं। उनके कोई सन्तति नहीं थी। पुत्र-प्राप्ति के निमित्त उन्होंने शिवजी की

अराधना की। आशुतोष भगवान् भूतनाथ प्रसन्न हुए और बोले—"राजन्! तुम्हारे ही नहीं, तुम्हारे कुल में अब जो भी होंगे, उन सब के एक ही-एक सन्तान हुआ करेगी।" तब से मेरे कुल में सब के एक पुत्र होता रहा है। मेरे पुत्र न होकर यह पुत्री हुई है। इसलिये मैं पुत्रिका धर्म से इसका विवाह करना चाहता हूँ ?"

अर्जुन ने पूछा—"पुत्रिकाधर्म क्या है ?"

राजा बोले—"जिस लड़की के भाई न हो, उसको वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके वर को देते हुए पिता यह कहे—"मैं इस भ्रातृहीना कन्या को तुम्हें देता हूँ। इससे जो पुत्र होगा वह मेरा पुत्र समझा जायगा।" इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके जिस कन्या को दिया जाता है, उसे पुत्रिकाधर्म कहते हैं। मेरी कन्या से जो पुत्र होगा, उसे मैं ले लूँगा। यही इसका शुल्क है। यदि तुम ऐसी प्रतिज्ञा कर सको, तो मेरा तथा मेरी कन्या का अहोभाग्य।"

अर्जुन ने यह बात स्वीकार की। राजा ने बड़ा भारी उत्सव किया, सम्पूर्ण राज्य में आनन्दोत्सव मनाया गया। चित्राङ्गदा का विधिवत् अर्जुन के साथ पाणिग्रहण-संस्कार हुआ। कहाँ तो अर्जुन आये थे राज्य छोड़कर वन में! कहाँ एक दूसरा राज्य मिल गया। चित्राङ्गदा देव तुल्य परम पराक्रमी पति पाकर परम प्रमुदित हुई। वह सर्वात्म भाव से अर्जुन की सेवा करने लगी। अर्जुन अपनी नई ससुराल में तीन वर्ष रहे। जब चित्राङ्गदा के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हो गया, तब वे पुत्र और पुत्र की माता को छोड़कर दक्षिण की यात्रा को चले गये। अर्जुन के उस पुत्र का नाम हुआ बभ्रुवाहन। महाराज चित्रवाहन ने उसे ही युवराज घोषित कर दिया। शनैः-शनैः बभ्रुवाहन बढ़ने लगे।

युद्ध के उपरान्त पाण्डवों ने जो दिग्विजय की, उसमें बभ्रुवाहन ने अपने पिता अर्जुन से युद्ध किया।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! बभ्रुवाहन ने अपने पिता अर्जुन से युद्ध क्यों किया ? कृपा करके इस वृत्तान्त का आप सुनावें।"

सूतजी वोले—'भगवन ! मेरे गुरु के भी गुरु भगवान व्यास न महाभारत मे इस कथा का वर्णन किया है और जैमिनी अश्वमेध म भी इसका विस्तार से वर्णन है। मैं इस कथा को अत्यन्त सक्षेप मे आपको सुनाता हूँ।"

महाभारत के युद्ध के अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ किया। उसमें घोडा छोडा गया। देश विदेशों म भ्रमण करता हुआ यज्ञीय अश्व मणिपुर राज्य मे पहुँचा। वहाँ के राजा अर्जुन नन्दन बभ्रुवाहन ने जब अपनी माता से सुना कि मेरे पिता दिग्विजय करने के निमित्त अश्व की रक्षा करते हुए मेरी राजधानी के समीप आये हैं, तब वह भेंट का बहुत-सा सामान लेकर पिता के समीप गया। बभ्रुवाहन अपने साथ बहुत-सा धन, रत्न, आभूषण, वस्त्र, अलकार, वाहन तथा नाना भाँति की वस्तुएँ उपहार के निमित्त लाया था। पिता के समीप पहुँचकर उसने उनके पादपद्मों मे प्रणाम किया, भेंट की सभी वस्तुएँ सादर समर्पित कीं और हाथ जोडकर कहा—"पिताजी ! मैं आपका अनुगत हूँ, मेरे योग्य जो सेवा हो, वह बताइये।"

अपने पुत्र के इस व्यवहार से अर्जुन प्रसन्न नहीं हुए। उन्होने क्रुद्ध होकर कहा—"तू ने जो मेरे साथ व्यवहार किया है, इससे प्रतीत होता है, तू मेरे वीर्य से उत्पन्न नहीं है।"

यह सुनकर बभ्रुवाहन की आँखें क्रोध के कारण लाल हो गइ। उसने अपने क्रोध को रोकते हुए कहा—"क्या पुत्र को पिता का सत्कार नही करना चाहिये ?"

धीर गम्भीर स्वर म अर्जुन ने कहा—"अवश्य करना चाहिये।

पिता के प्रति आदर करना पुत्र का परम धर्म है। किन्तु यह तुम्हारा व्यवहार तब शोभनीय होता, जब मैं निःशस्त्र होकर तुम से पिता की भाँति मिलने आता। अब तो मैं धर्मराज का प्रतिनिधि होकर युद्ध की इच्छा से समस्त राजाओं को युद्ध के लिये ललकारता फिरता हूँ। जो निर्बल हैं, वे आकर मुझे भेंट देते हैं, दीनता के साथ अधीन हो जाते हैं। जो वीराभिमानी है, वे मुझ से युद्ध करते हैं। तुम क्षत्रिय-वीर्य से उत्पन्न होकर भी, एक दिग्विजयी राजा के सेनापति के सम्मुख, बिना युद्ध किये, झुक गये। यह व्यवहार क्षत्रियोचित नहीं है।"

बभ्रुवाहन को अपनी भूल मालूम हुई। वह तुरन्त लौटकर अपनी माँ के पास पहुँचा और कहा—"माँ! मैं तो राजा के घोड़े को पकड़ूँगा, इससे युद्ध करूँगा।"

चित्राङ्गदा ने कहा—"बेटा! यह तेरे पिता हैं, पिता के साथ पुत्र का युद्ध ठीक नहीं।"

बभ्रुवाहन बोला—"माँ! इन्होंने तो तेरा तिरस्कार किया है। अब मैं मानने का नहीं।"

माता और पुत्र में ये बातें हो ही रही थीं, कि इतने में ही नागराज-कन्या उलूपी वहाँ आ पहुँची। उस सुन्दरी को देखकर सहसा बभ्रुवाहन स्तम्भित हो गये। वे बोले—"देवि! आप कौन है, किसलिये आप यहाँ पधारीं हैं।"

उलूपी ने कहा—"बेटा! मैं तुम्हारी माता हूँ। तुम अपने इस अभिमानी पिता से युद्ध अवश्य करो। भगवान् तुम्हारा भला करेंगे। इन वीराभिमानी अपने जनक के गर्व को तुम युद्ध में चकनाचूर कर दो।"

यह सुनकर बभ्रुवाहन अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। उसने कहा—"माताजी! मैं आपकी आज्ञा का पालन अवश्य करूँगा।

यदि पिता युद्ध से ही प्रसन्न होंगे, तो मैं इनसे युद्ध करूँगा। इन्हें युद्ध में पराजित करूँगा।"

यह कहकर वीराभिमानी बभ्रुवाहन ने तुरन्त अपना सुवर्ण का कवच पहना और रणभूमि में जा पहुँचा। उसने अपने सेवकों से कहा—"इस घोड़े को पकड़ लो और इन सभी सैनिकों को मार भगाओ।" सेवकों ने ऐसा ही किया, अर्जुन के यज्ञीय घोड़े को पकड़ लिया। जब अर्जुन ने यह सम्वाद सुना, तब वे अत्यन्त हर्षित होकर बभ्रुवाहन से लड़ने आये। पिता-पुत्र में घोर संग्राम हुआ दोनों ही अस्त्र शस्त्रों के ज्ञाता थे, दोनों ही रण से हटने वाले नहीं थे, दोनों ही प्राणों का पण लगाकर लड़ रहे थे। अर्जुन ने बाण मार-मारकर बभ्रुवाहन को घायल कर दिया था। इधर बभ्रुवाहन भी पूरी शक्ति लगाकर लड़ रहा था। अन्त में उसने एक ऐसा बाण अर्जुन की छाती में मारा, कि उसके लगते ही वे मूर्छित होकर रथ से नीचे गिर गये और उनके प्राण-पखेरू उड़ गये।

पिता के बाणों से पुत्र पहिले ही जर्जरित हो गया था। बाण मार कर वह भी मूर्छित होकर भूमि पर गिर गया। अपने पति और पुत्र का निधन सुनकर चित्राङ्गदा रोती हुई समर भूमि में आई और अपने पति की मृतक देह को गोद में लेकर दाढ़ मारकर रोने लगी। वह भाँति-भाँति के करुण वाक्य कह-कहकर विलाप करने लगी। उलूपी भी वहाँ आ गयी। उसको सुनाकर चित्राङ्गदा कहने लगी—"बहन! तूने ही मेरे पुत्र को उत्तेजित करके मेरे पति से लड़वा दिया। मुझे पुत्र के मारे जाने का उतना शोक नहीं, जितना पति के मारे जाने का। मैं इन कुरुकुल तिलक के बिना जीवित नहीं रह सकती। इसलिये मैं भी प्राणों का परित्याग

करती हूँ।" यह कहकर चित्राङ्गदा प्राण त्यागने के लिये उद्यत हो गई।

इतने मे ही बभ्रुवाहन की भी मूर्छा भङ्ग हो गई। उसने जब पिता को मृतक और माता को विलाप करते देखा, वह भी शोक करने लगा। तब उलूपी ने सबको धैर्य बँधाते हुए कहा—"आप सब चिन्ता न करें, मैंने यह सब अपने पति के हित के लिये कराया है।" यह कहकर उसने सञ्जीवनी मणि अर्जुन के हृदय पर रख दी। उस मणि के रखते ही अर्जुन सोये हुए पुरुष की भाँति, आँख मलते हुए, उठ खड़े हुए और चित्राङ्गदा तथा उलूपी अपनी दोनों पत्नियों को रणभूमि में देखकर तथा सभी को व्याकुल देखकर उसका कारण पूछा। इस पर चित्राङ्गदा ने कहा—"प्राणनाथ! आप उलूपी से इसका कारण पूछें।"

जब अर्जुन ने उलूपी से पूछा, तब उसने बताया—"देव! जब आपने अन्याय से शिखण्डी को आगे करके अधर्मपूर्वक भीष्म को मारा, तभी श्री गङ्गाजी सहित वसुओं ने शाप दिया था—"आपकी मृत्यु भी अपने पुत्र द्वारा होगी।"

यह शाप और किसी ने नहीं सुना, केवल मैंने सुना था। इससे मुझे बड़ा भय हुआ। मैंने अपने पिता से सब कहा। वे वसुओं के पास गये और उनसे अनुनय विनय की। मेरे पिता की विनती सुनकर उन्होंने कहा—"अर्जुन की मृत्यु तो उसके पुत्र द्वारा अवश्य होगी, किन्तु पुनः वह सजीवनी मणि द्वारा जीवित हो जायगा। इस मृत्यु से उसके पाप का प्रायश्चित्त हो जायगा।" उसी पाप का प्रायश्चित्त कराने के लिये मैंने बभ्रुवाहन को युद्ध के लिये उत्साहित किया। प्राणनाथ! पुत्र के द्वारा पराजय होने मे कोई दोष की बात नहीं, क्योंकि पुत्र तो अपनी आत्मा ही है। इससे आपके पाप का प्रायश्चित्त हो गया। नहीं तो,

आप को नरक जाना पड़ता। वसुओं के शापवश ही वभ्रुवाहन आपको मार सका, नहीं तो आपको सम्पूर्ण देवता भी नहीं जीत सकते। आप तो साक्षात् नरावतार हैं। मैंने जो कुछ किया है, आपके हित के लिये, प्रेमवश ही किया है।"

यह सुनकर अर्जुन परम प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने पुत्र का प्रेम से आलिङ्गन किया और उसका सिर सूँघा। तब हाथ जोड़कर बभ्रुवाहन ने कहा—"पिताजी! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो एक दिन चलकर मेरे महलों में विश्राम करें, कल प्रातःकाल चले जायँ।"

इस पर अत्यन्त स्नेह से अर्जुन ने कहा—"बेटा! मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। घोड़े के कारण परतन्त्र हूँ। घोड़े की गति स्वतन्त्र है। इसे रोकना उचित नहीं। तुम अपनी दोनों माताओं को लेकर धर्मराज के अश्वमेध यज्ञ में आना।"

यह सुनकर बभ्रुवाहन ने फिर आग्रह नहीं किया। सिर झुकाकर कहा—"हाँ, पिताजी! यज्ञ मे अवश्य आऊँगा।" यह सुनकर अर्जुन प्रसन्न हुए और घोड़े के पीछे-पीछे चले गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! बभ्रुवाहन अपनी दोनों माताओं को लेकर समरक्षेत्र से महलों में आये। फिर वे यज्ञ का समय आने पर दोनों माताओं के साथ हस्तिनापुर आए। सभी ने बभ्रुवाहन का बड़ा ही स्वागत-सत्कार किया। बभ्रुवाहन ने अपनी दादी तथा गुरुजनों के पैर छुए और यज्ञ में समस्त कार्य किये। इस प्रकार मैंने अर्जुन के इरावान और बभ्रुवाहन इन दोनों पुत्रों का वर्णन किया। अब उनके तीसरे पुत्र अभिमन्यु और उनके वंशजों की कथा सुनिये।"

छप्पय

अश्वमेध को अश्व बभ्रुवाहन ने पकर्‌यो।
रनको बानो पहिन पिता तैं लड़िबे निकर्‌यो ।।
अति ई भीषण युद्ध भयो पितु सुत तैं हार्‌यो।
सुनी मात जिह बात पुत्र ने मम पति मार्‌यो ।।
अति विलाप पति-हित कर्‌यो, आइ उलूपी समर महँ।
मणि तैं पति जीवित करे, गये पार्थ निज नगर महँ ।।

अर्जुन के सुत अभिमन्यु और उनके वंशज

[७६४]

परिक्षीणेषु कुरुषु द्रौणेर्ब्रह्मास्त्रतेजसा ।
त्वं च कृष्णानुभावेन सजीवो मोचितोऽन्तकात् ॥
तमेवे तनयास्तात जनमेजयपूर्वकाः ।
श्रुतसेनो भीमसेन उग्रसेनश्च वीर्यवान्॥ *

(श्री भा० ६ स्क० २२ अ० ३४-३५ श्लोक)

छप्पय

रचवायो अति स्वांग सूत्रधार सखा कृष्ण ने ।
हरी सुभद्रा जाय द्वारका महँ अर्जुन ने ॥
तिनके सुत अभिमन्यु वीर-गति भारत पाई ।
नारि उत्तरा गर्भवती हरि-चरननि आई ॥
तातैं जनमे भागवत, देवरात नृप परीक्षित ।
सुरतरु-सम पूरन करहिँ, प्रजा-मनोरथ धरमवित ॥

---

* श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—"राजन् ! जब कौरवों का वंश नष्ट होने लगा और माता के उदर मे ही तुम अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र तेज से नष्ट होने लगे, तब श्रीकृष्ण भगवान् के प्रभाव से ही तुम उस मृत्यु से जीवित बच गये । हे तात ! जनमेजय, श्रुतसेन, भीमसेन और उग्रसेन ये तुम्हारे परम पराक्रमी पुत्र हैं ।"

शास्त्रकारों का कथन है कि बहुत से पुत्र पैदा करने चाहिये, जिनमें कोई भगवद्भक्त, कोई वीर, कोई वंशधर हो जाय। क्षत्रिय समर में जाते समय जीवित लौटने की आशा नहीं रखते। वे हथेली पर सिर रखकर और सिर पर कफन लपेटे ही समर में जाते हैं। इसीलिये वीर क्षत्रिय अपने वीरपुत्र की सदा मङ्गल-कामना करते रहते हैं, पुत्रवान् होने पर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! द्रौपदी, उलूपी और चित्राङ्गदा के अतिरिक्त भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की भगिनी सुभद्रा भी अर्जुन की एक पत्नी थी। वनवास के समय इनकी दृष्टि सुभद्रा पर पड़ गई। बलराम तथा अन्य यादवों के विरोध करने पर भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सम्मति दी, कि वे सुभद्रा को हर ले जायँ। भगवान् ने इस काम में उन्हें सहायता दी, अपना रथ भी दिया। अर्जुन सुभद्रा को हर ले गये। उसी के गर्भ से महावीर अभिमन्यु का जन्म हुआ।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! अब तो आप घास-सी काटने लगे। सुभद्रा-हरण और अभिमन्यु-जन्म की कैसी सुन्दर-सरस कथायें हैं, उन्हें आप दो शब्दों में ही समाप्त कर रहे हैं। कहिये भगवद्भक्तों की कथा में इतनी शीघ्रता क्यों कर रहे हैं?"

सूतजी बोले—"महाराज, मैं सुभद्रा-हरण की लीला को आगे विस्तार के साथ श्रीकृष्णचरित के प्रसङ्ग में कहूँगा। भगवन्! सुभद्रा-हरण-लीला में अर्जुन की वीरता का प्राधान्य नहीं है। उसमें तो भगवान् की भक्तवत्सलता की महिमा है। भगवान् कैसे भक्तवत्सल हैं, कि अपने अनुचरों की छोटी से छोटी इच्छा को पूरी ही नहीं करते, बल्कि उसमें स्वयं कार्यतः

सहयोग भी देते हैं। यदि यह चरित यहाँ सुनने की आपकी इच्छा हो, तो आज्ञा कीजिये, मैं इसे यहाँ कहूँ।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! यह तो आपकी इच्छा पर ही है।"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! वहीं उपयुक्त रहेगा। यहाँ तो केवल कथा-प्रसंग को एक सूत्र में आवद्ध करने के उद्देश्य से मैं केवल परम्परा ही बताता जाता हूँ। हाँ, तो सुभद्राजी के गर्भ से वीराग्रगण्य अभिमन्यु का जन्म हुआ। जब ये गर्भ में ही थे, अर्जुन इनकी माता को अस्त्र-शस्त्रों के सम्बन्ध की बात बताया करते थे। उन्हीं बातों को सुनकर गर्भ में ही इन्होंने समस्त अस्त्र-शस्त्र सीख लिये थे। पाण्डव जब बारह वर्ष के वनवास के समय महाराज विराट के यहाँ एक वर्ष अज्ञात-वास में थे, तब अर्जुन उनकी पुत्री उत्तरा को नाचने-गाने की शिक्षा दिया करते थे। अन्त में उसी लड़की का विवाह अर्जुन ने अपने पुत्र सुभद्रा-नन्दन अभिमन्यु के साथ कर लिया। उत्तरा जब गर्भवती थी, तभी अभिमन्यु को कई महारथियों ने मिलकर महाभारत युद्ध में अन्याय से मार डाला। जिस दुर्योधन के बहनोई जयद्रथ ने बालक अभिमन्यु का वध किया था, उसे सव्यसाची अर्जुन ने श्रीकृष्ण की सहायता से सूर्यास्त के पहले-पहले मार डाला।

महाभारत-युद्ध समाप्त होने पर पाण्डवों के कुल का समूल नाश करने के निमित्त अश्वत्थामा ने द्रौपदी के पाँचों पुत्रों के सिर काट लिये, पाँचों पांडवों को मारने को पाँच वाण छोड़े। उत्तरा के गर्भ को नष्ट करने के लिये भी उसने ब्रह्मास्त्र छोड़ा, किन्तु भगवान् की कृपा से पाँचों पांडव भी बच गये और

उत्तरा के गर्भस्थ बालक का भी बाल बाँका नहीं हुआ। वे ही गर्भस्थ बालक महाराज परीक्षित् हुए, जिन्होंने भगवान् शुक से

श्रीमद्भागवत की कथा, गंगा तट-शुकदेवाश्रम-पर सुनी। उन महाराज परीक्षित् की महिमा का गान कौन कर सकता है ?"

महाराज परीक्षित् के चार पुत्र हुए—जनमेजय, श्रुतसेन, भीमसेन और उग्रसेन। महाराज जनमेजय बड़े ही धर्मात्मा थे।

इन्होंने ही सभी पुराणों तथा महाभारत को सुनकर इनका पृथ्वी पर विशेष प्रचार-प्रसार किया। पुण्यश्लोक महाराज जनमेजय की कीर्ति जब तक चन्द्र-सूर्य रहेंगे, तब तक बनी रहेगी। इन्होंने बड़े-बड़े अश्वमेधादि यज्ञ किये। कावपेय गोत्रीय ऋषिवर तुर को अपना पुरोहित बनाकर यज्ञों द्वारा भगवान का यजन किया और सम्पूर्ण पृथ्वी पर अपना एकछत्र राज्य स्थापित किया। इन महाराज जनमेजय के पुत्र शतानीक को तो भगवन्! आप जानते ही हैं। आपसे इन्होंने आत्मज्ञान की शिक्षा प्राप्त की थी। ये धनुर्वेद-विशारद भी थे। भगवान् कृपाचार्य से इन्होंने अस्त्र-विद्या की शिक्षा पाई थी तथा याज्ञवल्क्य ऋषि से वेदत्रयी तथा क्रिया ज्ञान अर्थात् भक्ति-शास्त्र का अध्ययन किया था। इस शतानीक के पुत्र सहस्रानीक हुए। सहस्रानीक के अश्वमेधज, उनके असीम कृष्ण, असीम कृष्ण के पुत्र नेमिचक्र हुए। नेमिचक्र हस्तिनापुर के अन्तिम राजा हुए। पहले हस्तिनापुर से कुछ दूर गंगाजी थीं। महाराज नेमिचक्र के समय में गङ्गाजी की धारा हस्तिनापुर के नीचे आ गई। एक बार बाढ़ आई, पूरा हस्तिनापुर बह गया। तब महाराज उस नगर को छोड़कर प्रयागराज के समीप आकर कौशाम्बी नामक नगरी में सुख पूर्वक निवास करने लगे। कौशाम्बी को ही इन्होंने अपनी राजधानी बनाई।

महाराज नेमिचक्र के पुत्र चित्ररथ हुए। उनके कविरथ, कविरथ के वृष्टिमान्, वृष्टिमान् के सुषेण और सुषेण के सुनीथ उनके नृचक्षु तथा नृचक्षु के सुखीनल सुत हुए।

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! इसके ये हुए, उसका यह पुत्र हुआ, यही करते रहोगे या कोई कथा भी सुनाओगे ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! कड़वी दवा को जैसे आँख मूँदकर विश्वास के बल पर पी जाते हैं, उसी प्रकार अब आप

मौन होकर इस वंशानुचरित्त को श्रवण करते जाइये। जैसे चिकित्सक कह देता है कि यह दवा अतिउत्तम है, और हम उसकी बात मानकर इच्छा न होने पर भी कड़वी से कड़वी औषधि को श्वांस रोककर पी जाते हैं, वैसी ही इस चन्द्रवंश की वंशावली को आप शास्त्राज्ञा मानकर सुनते जाये अब तो तनिक-सी ही रही है। हमारा मुख्य उद्देश्य तो यदुकुल का वंश वर्णन है, उसमें भी यदुकुलभूषण, यदुनन्दन, यादवेन्द्र श्री कृष्णचन्द्र के चारु चरित का। इसलिये अब मैं पुरु वंश को संक्षेप से कह कर और नाम मात्र को अनु द्रुह्यु तथा तुर्वसु के वंशज राजाओं का वर्णन करके, यदुवंश की कथा कहूँगा।"

इस पर शौनकजी बोले—"अच्छी बात है सूतजी! आप कह लीजिये वंशावली को ही। हाँ, तो सुसीनल का पुत्र कौन हुआ?"

सूतजी बोले—"भगवन्! सुसीनल के पुत्र परिप्लव हुए, उनके सुनय और सुनय के मेधावी। मेधावी से नृपञ्जय, उनके दूर्व और दूर्व से तिमि का जन्म हुआ। तिमि से वृहद्रथ वृहद्रथ से सुदास, सुदास से सतानीक, सतानीक से दुर्दमन, उनके वहीनर, वहीनर के दण्डपाणि, दण्डपाणि के निमि और निमि के पुत्र क्षेमक हुए। बस, ये क्षेमक ही चन्द्रवंशीय महाराज वृहत्क्षत्र के वंश के अन्तिम राजा हैं। कलियुग में महाराज क्षेमक के अनन्तर यह वंश समाप्त हो जायगा। महाराज पुरु का यह वंश देवता और ऋषियों द्वारा सत्कृत है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! चन्द्रवंशीय राजा तो अब भी बहुत हैं। आप कहते हैं, यह वंश क्षेमक के अनन्तर समाप्त हो जायगा। यह क्या बात है?"

इस पर सूतजी ने कहा—"महाराज! बीज तो किसी वस्तु

का कभी भी नाश नहीं होता। सूर्यवंश के महाराज मरु तथा चन्द्रवंश के महाराज देवापि अब तक भी योग-समाधि में बैठे बद्रीनाथ के ऊपर अलक्षित भाव से तप कर रहे हैं। कलियुग का अन्त होने पर ये पुनः सूर्य तथा चन्द्रवंश की स्थापना करेंगे। आगे के युगों में जो सूर्य-चन्द्र की वंशावली होगी, वह मरु और देवापि की जो सन्तानें होंगी, उनसे ही मानी जायगी। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि दोनों राजाओं के अनंतर कलियुग आ गया था। वंशों में उतनी विशुद्धता नहीं रही। फिर भी सूर्यवंश के महाराज सुमित्र और चन्द्रवंश के महाराज क्षेमक तक कलियुग में भी इन वंशों की परम्परा किसी प्रकार अक्षुण्ण और शुद्ध बनी रही। इन राजाओं के अनन्तर तो कलियुग के प्रभाव से विशुद्ध वंश परम्परा नहीं रही। म्लेच्छों के आने तक तो क्षत्रिय-कुल रहे भी, वे शनैः-शनैः क्षात्रधर्म से च्युत हो गये। उन्होंने प्रजा-पालन और धर्म-युद्ध से मुख मोड़ लिया। अब तो नाम मात्र के क्षत्रिय राजा रह गये हैं। अब तो जिसकी लाठी उसकी भैंस हो गई है। वंश-परम्परा लुप्तप्राय हो गई। धर्म की ओर से युग-प्रभाव के कारण लोगों की अरुचि हो गयी। वर्णाश्रम-धर्म नष्टप्राय हो गया। कुलगत मर्यादा छिन्न-भिन्न हो गई। भगवान् जो करते हैं, अच्छा ही करते हैं। बुरा तो उनके यहाँ कुछ है ही नहीं। धर्म भी उन्हीं के हृदय से उत्पन्न हुआ है और अधर्म भी उन्हीं की पीठ से। सत्ययुग में धर्म का बोलबाला रहता है। त्रेता में तीन भाग धर्म और एक भाग अधर्म भी अपना आधिपत्य जमा लेता है। द्वापर में अधर्म आधे पर अधिकार कर लेता है। कलियुग में धर्म निर्बल हो जाता है, अधर्म सबल बन जाता है, चतुष्पाद् धर्म के तीन पैर टूट जाते हैं। वह कुछ दिन एक पैर से लँगड़ा-लँगड़ा कर चलता

है। अन्त मे वह भी टूट जाता है। अधर्म बीसों बिस्से का स्वामी हो जाता है, जैसे सत्ययुग म धर्म का एकछत्र राज्य था, वैसे ही घोर कलियुग म अधर्म का हो जाता है। सो, महाराज! ये सब कलियुग को बढाने के ही लिये विशुद्ध वंश छिन्न भिन्न हो जाते हैं। अकुलीन वर्णसकर दस्यु धर्मी ही मनमाना आचरण करके कलियुग को पुष्ट करते हैं, उसकी शक्ति को बढाते हैं। वे क्या बढाते हैं, समय सब कुछ करा लेता है! कालरूप भगवान् ही सब समयानुसार मति बदल देते हैं। सो महाराज! अब तो पृथ्वी पर कलियुग आ गया है। ब्रह्म-राक्षस स्त्रियो के गर्भो से मनुष्य रूप म उत्पन्न होकर कलियुगी प्रवृत्ति का प्रचार कर रहे हैं। इस प्रकार मैंने महाराज हस्ती के पिता बृहत्क्षत्र के वंश का वर्णन कर दिया। अब लगे हाथों आप महाराज बृहद्रथ के अवशिष्ट राजाओ के भी नाम सुन ल।

पीछे मैं मगधराज बृहद्रथ-सुत जरासन्ध के जन्म तक का वर्णन कर ही चुका हूँ। जरासन्ध को श्रीकृष्ण की सहायता से भीमसेन ने द्वन्द्व युद्ध में बीच से फाड दिया था। इसकी कथा मैं आगे कहूँगा। उसके पुत्र सहदेव हुए, जिन्होंने भगवान् की आज्ञा से अपने यहाँ पिता द्वारा बन्दी बनाये राजाओं को सत्कार-पूर्वक वस्त्राभूषणा स अलकृत करके अपने अपने नगरों को भेज दिया था। सहदेव पुत्र मार्जारि हुये, उनके श्रुतश्रवा, श्रुतश्रवा के युतायु और उनके नरमित्र नाम के सुप्रसिद्ध भूपति हुये। नरमित्र के पुत्र सुनक्षत्र, उनके बृहत्सेन, बृहत्सेन के कर्मजित, कर्मजित के सृञ्जय, उनके विप्र और विप्र के सुत शुचि हुए। शुचि के क्षेम, उनके सुव्रत, सुव्रत के धर्मसूत्र धर्मसूत्र से शम, शम से द्युमत्सेन, द्युमत्सेन के सुमति, सुमति के सुत सुबल हुए। सुबल के पुत्र सुनाथ और सुनीथ के सत्यजित, सत्यजित के विश्वजित और उनके रिपुञ्जय हुए।

जरासन्ध के पश्चात् अर्थात् महाभारत के अनंतर मगध-वंश में एक सहस्र वर्ष में ये बाईस राजा हुए। रिपुञ्जय के अनन्तर मगध-वंश छिन्न भिन्न हो गया। विहार में अब भी गिरिव्रज (राजगिरि) नाम का स्थान है, जहाँ उष्ण जल के स्रोत निकलते हैं यह बड़ा ही रमणीक और स्वास्थ्यप्रद स्थान है, किन्तु अब उस वंश की केवल कथा मात्र अवशिष्ट रह गई है। कराल काल ने सभी बातें अपने विशाल गर्भ में छिपा लीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने महाराज ययाति के सबसे छोटे पुत्र पुरु के वंश का अत्यन्त ही संक्षेप में वर्णन किया। अब आप मुझसे और क्या सुनना चाहते हैं ?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप इस बात को पहले ही बता चुके हैं, कि महाराज ययाति के शुक्रतनया, देवयानी और वृषपर्वा की प्यारी पुत्री शर्मिष्ठा—ये दो पत्नियाँ थीं। जिनमें से देवयानी के गर्भ से यदु और तुर्वसु ये दो पुत्र हुए और शर्मिष्ठा ने द्रुह्यु, अनु और पुरु इन तीन पुत्रों को जन्म दिया। आपने शर्मिष्ठा के सबसे छोटे पुत्र पुरु के ही वंश का वर्णन किया। अब हम महाराज ययाति के शेष चार पुत्रों का भी वंश का वर्णन सुनना चाहते हैं।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! यदि मैं इन सबका विस्तार करने लगूँ, तो फिर यह कथा समाप्त ही न होगी। श्रीकृष्ण-चरित सुनाने को अवकाश ही न होगा। अतः मैं महाराज पुरु के शेष चारों भाईयो के वंश का अत्यन्त ही संक्षेप में वर्णन करूँगा। सबसे प्रथम आप शर्मिष्ठा के द्वितीय पुत्र अनु के वंश का वर्णन सुनें। इस वंश में बहुत ही प्रसिद्ध राजर्षि हो गये हैं, उन्हीं का वर्णन अब मैं करूँगा।"

छप्पय

भूप भागवत सुनी अन्त महँ भये भक्तियुत।
जनमेजय श्रुतसेन भीम अरु उग्रसेन सुत॥
जनमेजय जो ज्येष्ठ भये सुत शतानीक तिनि।
पच्चिस पीढ़ी माहिँ भये क्षेमक भूपतिमनि॥
क्षेमक ही जा वश के, सब तें अन्तिम नृप भये।
कलि प्रभाव तें शुद्ध कुल, छिन्न-भिन्न अब है गये॥

इसके आगे की कथा अगले खण्ड में पढ़िये!

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१—भागवती कथा (१०८ खण्डो मे)—८३ खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० १.६५ पैसे डाकव्यय पृथक।
२—श्री भागवत चरित—लगभग ६०० पृष्ठ की, सजिल्द — मू० ६ ५०
३—सटीक भागवत चरित (दो खण्डो मे)— एक खण्ड का मू० ८ ००
४—बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ — मू० ५.००
५—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ०स० ३५० — मू० ३ ४५
६—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप — मू० २ ५०
७—कृष्ण चरित—पृ० स० लगभग ३५० — मू० २ ५०
८—मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन — मू० २.५०
९—गोपालन शिक्षा—गौओ का पालन कैसे करें — मू० २.५०
१०—श्री चैतन्य चरितावली (पाँच खण्डो मे)— प्रथम खण्ड का मू० १ ६०
११—नाम सकीर्तन महिमा—पृष्ठ सख्या ९६ — मू० ० ६०
१२—श्री शुक—श्री शुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) — मू० ० ६५
१३—भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० — मू० ० ३१
१४—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करन वाला रोचक पत्र — मू० ० ३१
१५—मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद सस्मरण, — मू० ० ३१
१६—भारतीय सस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) — मू० ०.३१
१७—राघवेन्द्र चरित—पृ० स० लगभग १६० — मू० ०.४०
१८—भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० — मू० ० ३१
१९—गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दो मे) — मू० ० २०
२०—भक्तचरितावली प्रथम खड मू० ४.०० द्वितीत खड — मू० २ ५०
२१—सत्यनारायण की कथा —छप्पय छन्दो सहित — मू० ० ७५
२२—प्रयाग माहात्म्य— मू० ०.२० — २५—प्रभुपूजा पद्धति— मू० ०.२५
२३—वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.१२ — २६—श्री हनुमत-शतक— मू० ०.५०
२४—सार्थ छप्पय गीता— मू० ३.०० — २७—महावीर-हनुमान्— मू० २ ५०

(प्रकाशक) ... भवन झूसी (प्रयाग)